Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

सोशल मीडिया और सामाजिक परिवर्तन

शोध निर्देशक
डॉ0 सोहराब अंसारी
असि0प्रो0, समाजशास्त्र विभाग
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर

शोधार्थी
राजेश कुमार गुप्ता

सारांश–

आधुनिक समाज में सोशल मीडिया एक निर्विवाद शक्ति है। वैश्विक आबादी के आधे से अधिक लोग सामाजिक प्लेटफार्मो का उपयोग करते हैं, और औसत व्यक्ति हर दिन उनपर स्क्रॉल करने में कम से कम दो घंटे बिताता है, यह अतिरंजित नही हो सकता है कि हमारे डिजिटल स्पेस ने हमारे जीवन को बदल दिया है जैसा कि हम जानते थे। हमें एक साथ आने ओर अपने आस–पास की दुनिया से जुड़े रहने के नए तरीके देने से लेकर, आत्म–अभिव्यक्ति के लिए आउटलेट प्रदान करने तक, सोशल मीडिया ने हमारे रिश्तों को शुरू करने, बनाने और बनाए रखने के तरीको को मौलिक रूप से बदल दिया है। लेकिन जबकि ये डिजिटल समुदाय हमारे दैनिक जीवन में आम हो गये हैं। सोशल मीडिया मॉडल हर दिन बदल रहे हैं, मेरा और इंस्ट्राग्राम जैसे प्रमुख प्लेटफार्म प्राथमिक डिजिटल विज्ञापन स्थानों के साथ–साथ सामाजिक रूप से भी विकसित हो रहे हैं।

शब्द कुंजी– सोशल मीडिया, इण्टरनेट, सामाजिक संबंध, डिजिटल, तकनीकी।

प्रस्तावना–

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जिस समाज में मनुष्य रहता है उस समाज के बारे में यह अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहता है। समाज में कब, कहाँ, क्यों, कैसे क्या हो रहा है? इन सबको जानने का एकमात्र माध्यम मीडिया है। जो समाचार द्वारा लोगों की जिज्ञासाओं को पूर्ण करता है। आए दिन कुछ न कुछ ऐसी घटनाएं व बातें मीडिया द्वारा प्रदर्शित की जाती है। जिसका संबंध कहीं न कही आम लोगों के जीवन से होता है।[1]

तकनीकी विकास जहाँ हमें इतना कुछ दे रहा है वहीं बहुत कुछ छीन भी रहा है। यह हमारे ऊपर है कि हम किस प्रकार इससे लाभ ज्यादा और हानि कम उठायें। जहाँ सोशल मीडिया लोगों को करीब लाता है वहीं इसके बहाने लोगों ने एक–दूसरे से मिलना भी छोड़ दिया। जहाँ लोग कम से कम छः महीने में एक–दूसरे से मिल लेते थे वहीं यह अवधि और बढ़ गई है और लोग सोशल मीडिया पर ही मेल–मुलाकात कर लेते हैं। कुछ लोग सोशल मीडिया के जरिये देश में अशांति व द्वेष फैलाने का निन्दनीय काम भी करते हैं। किसी भी छोटी सी खबर को धर्म व जाति से जोड़ कर और नमक–मिर्च लगा कर सोशल मीडिया पर डाल देते हैं जिससे वह आग की तरह फैल जाती है। देश में कई ऐसी घटनायें देखने में आई हैं। कई बार सोशल मीडिया पर ऐसी बातें डाल देते हैं कि वह देश या विश्व का मुद्दा बन जाती हैं। कई बार नकली एकाऊण्ट बना कर तो कई बार अपनी पहचान बदल कर लोग अपहरण, हत्या जैसी साजिशों के लिए भी सोशल मीडिया का प्रयोग करते हैं। कहीं मीडिया का नकारात्मक तो कहीं सकारात्मक सांस्कृतिक प्रभाव समाज पर देखा गया है।[2]

समाज, सामाजिक संबंधों का जाल है और इन संबंधों का निर्माता स्वय मनुष्य है। सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य ही समाज में संगठन एवं व्यवस्था स्थापित करते हुये इसे प्रगति एवं गतिशीलता की दिशाओं में ले जाने हेतु प्रत्यनशील रहा है। भारतीय समाज में पिछले वर्षो में अनेक परिवर्तन हुये हैं एवं वर्तमान में भी हो रहे हैं। इस सूचना प्रौद्योगिकी ने सुदूर देशों में बैठे व्यक्तियों को जोड़ने का जिम्मा बखूबी निभाया। इसके निरतर विकास क्रम में सोशल मीडिया उभर कर सामने आया है।

सामाजिक मीडिया पारस्परिक संबंधों एवं व्यक्तियों और समुदायों को साझा, सहभागी बनाने का माध्यम है। इसका उपयोग सामाजिक संबंध के अलावा उपयोगकर्ता सामग्री के संशोधन के लिए उच्च पारस्परिक प्लेटफार्म बनाने के लिए मोबाइल और वेब आधारित प्रौद्योगिकियों के प्रयोग के रूप में भी देखा जा सकता है।[3]

भारत में मीडिया का विकास तीन चरणों में हुआ। पहले दौर की नींव उन्नीसवीं सदी में उस समय पड़ी जब औपनिवेशिक आधुनिकता के ससर्ग और औपनिवेशिक हुकूमत के खिलाफ असंतोष की अंतर्विरोधी छाया में हमारे सार्वजनिक जीवन की रूपरेखा बन रही थी। इस प्रक्रिया के तहत मीडिया दो ध्रुवो में बँट गया। उसका एक हिस्सा औपनिवेशिक शासन का समर्थक निकला, और दूसरे हिस्से ने स्वतंत्रता का झण्डा बुलंद करने वालों का साथ दिया। राष्ट्रवाद बनाम उपनिवेशवाद का यह दौर 1947 तक चलता रहा। इस बीच अंग्रेजी के साथ–साथ भारतीय भाषाओं में पत्र–पत्रिकाओं के प्रकाशन की समृद्ध परम्परा पड़ी और अंग्रेजों के नियंत्रण में रेडियो प्रसारण की शुरुआत हुई। दूसरा दौर आजादी मिलने के साथ प्रारम्भ हुआ और अस्सी के दशक तक चला। इस लम्बी अवधि में मीडिया के प्रसार और गुणवत्ता में जबरदस्त बढोत्तरी हुई। उसके विभिन्न रूप भारत को आधुनिक राष्ट्र राज्य बनाने के लक्ष्य के इर्द–गिर्द गढी गयी अखिल भारतीय सहमति को धरती पर उतारने की महा–परियोजना में भागीदारी करते हुए दिखाई पड़े। इसी दौर में टीवी का आगमन हुआ। मुद्रित मीडिया मुख्यत निजी क्षेत्र के हाथ में, और रेडियो–टीवी की लगाम सरकार के हाथ में रही।[4]

नब्बे के दशक में भूमण्डलीकरण के आगमन के साथ तीसरे दौर की शुरुआत हुई जो आज तक जारी है। यह राष्ट्र निर्माण और जन–राजनीति के प्रचलित मुहावरे में हुए आमूल–चूल परिवर्तन का समय था जिसके कारण मीडिया की शक्ल–सूरत और रुझानों में भारी तब्दीलियों आयीं। टीवी और रेडियो पर सरकारी जकड़ ढीली पड़ी। निजी क्षेत्र में चौबीस घंटे चलने वाले उपग्रहीय टीवी चैनलों और एफएम रेडियो चैनलों का बहुत तेजी से प्रसार हुआ। बढ़ती हुई साक्षरता और निरंतर जारी आधुनिकीकरण के तहत भारतीय भाषाओं के मीडिया ने अंग्रेजी–मीडिया को प्रसार और लोकप्रियता में बहुत पीछे छोड़ दिया। मीडिया का कुल आकार अभूतपूर्व ढंग से बढ़ा। नयी मीडिया प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल करने वाले लोगों की संख्या में जबरदस्त बढ़ोत्तरी हुई। महज दस साल के भीतर–भीतर भारत में भी लगभग वही स्थिति बन गयी जिसे पश्चिम में 'मीडियास्फेयर' कहा जाता है।

संचार का संवादात्मक स्वरूप–

मीडिया, संचार का संवादात्मक (Interactive) स्वरूप है जिसमें न्यू मीडिया इंटरनेट का उपयोग करते हुए हम सोशल नेटवर्क (फेसबुक, माईस्पेस, ट्विटर), ब्लाग्स, विक्किस, टैक्सट मैसेजिंग इत्यादि का उपयोग करते हुए पारस्परिक संवाद स्थापित करते हैं। यह संवाद माध्यम बहु–संचार संवाद का रूप धारण कर लेता है जिसमें पाठक, दर्शक, श्रोता तुरंत अपनी टिप्पणी न केवल लेखक/प्रकाशक से साझा कर सकते हैं, बल्कि अन्य लोग भी प्रकाशित/प्रसारित/संचारित विषय–वस्तु पर अपनी टिप्पणी दे सकते हैं। यह टिप्पणियां एक से अधिक भी हो सकती है अर्थात् बहुधा सशक्त टिप्पणियां परिचर्चा में परिवर्तित हो जाती हैं। उदाहरणतः आप फेसबुक को ही लें यदि आप कोई संदेश प्रकाशित करते हैं और बहुत से लोग आपकी विषय–वस्तु पर टिप्पणी देते हैं तो कई बार पाठक–वर्ग परस्पर परिचर्चा आरम्भ कर देते हैं और लेखक एक से अधिक टिप्पणियों का उत्तर देता है।

न्यू मीडिया वास्तव में परम्परागत मीडिया का संशोधित रूप है जिसमें तकनीकी क्रांतिकारी परिवर्तन व इसका नया रूप सम्मलित है।

न्यू मीडिया का प्रयोग करने हेतु कम्प्यूटर, मोबाइल जैसे उपकरण जिनमें इंटरनेट की सुविधा हो, की आवश्यकता होती है। न्यू मीडिया प्रत्येक व्यक्ति को विषय–वस्तु का सृजन, परिवर्धन, विषय–वस्तु का अन्य लोगों से साझा करने का अवसर समान रूप से प्रदान करता है। न्यू मीडिया के लिए उपयोग किए जाने वाले संसाधन अधिकतर निशुल्क या काफी सस्ते उपलब्ध हो जाते हैं।

रेडियो– 24 दिसम्बर 1906 की शाम कनाडाई वैज्ञानिक रेगिनाल्ड फेसेंडेन ने जब अपना वॉयलिन बजाया और अटलांटिक महासागर में तैर रहे तमाम जहाजों के रेडियो ऑपरेटरों ने उस संगीत को अपने रेडियो सेट पर सुना, वह दुनिया में रेडियो प्रसारण की शुरुआत थी।

टेलीविजन– दूरदर्शन का पहला प्रसारण 15 सितंबर, 1959 को प्रयोगात्मक आधार पर आधे घण्टे के लिए शैक्षिक और विकास कार्यक्रमों के रूप में शुरू किया गया। उस समय दूरदर्शन का प्रसारण सप्ताह में सिर्फ तीन दिन आधा–आधा घटे होता था। तब इसको 'टेलीविजन इंडिया' नाम दिया गया था। बाद में 1975 में इसका हिन्दी नामकरण 'दूरदर्शन' नाम से किया गया। यह दूरदर्शन नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि टीवी का हिंदी पर्याय बन गया। टेलीविजन के ज्ञानदर्शन चैनल द्वारा पाठ्य–सामग्री या पाठ्यक्रम सहायक सामग्री का प्रसारण भी काफी महत्वपूर्ण संचार माध्यम के रूप में उभर कर सामने आया है। पाठ्यक्रमों के प्रसारण के लिए अब एक अलग से एजूसेट नामक उपग्रह भी अंतरिक्ष में स्थापित किया गया है। जिससे विद्यार्थियों, शोधार्थियों यहाँ तक कि अध्यापकों के लिए शिक्षा संबंधी सूचनाएं प्राप्त करने, दुनिया में चल रहे शिक्षा संबंधी प्रयोगों के बारे में जानने में आसानी हो जाती है। इस चैनल के माध्यम से राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान भी अपने विद्यार्थियों के लिए कार्यक्रम का प्रसारण करता है। कभी–कभी टेलीकॉन्फ्रेंसिग कर विद्यार्थियों की समस्याओं का समाधान भी किया जाता है।

कम्प्यूटर– भारत में कंप्यूटर युग की शुरुआत सन् 1952 में भारतीय सांख्यिकी संस्थान कोलकाता से हुई थी। सन् 1952 में आई एस आई में एक एनालोग कंप्यूटर की स्थापना की गई थी। जो भारत का प्रथम कंप्यूटर था। अब कम्प्यूटर से कोई व्यक्ति अपरिचित नहीं है। आज यह संचार का एक महत्वपूर्ण एवं सशक्त माध्यम है। यह ऐसा उपकरण है जिसके कारण संचार के क्षेत्र में क्रांति आ गई है। आज संसार भर में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ कम्प्यूटर की पहुंच नही है। इस पर अखबारों, रेडियो, टेलीविजन के लिए समाचार लिखे जा सकते हैं, संपादित किए जाते हैं तथा प्रकाशित प्रसारित किये जाते हैं।

इंटरनेट– आज भारत में इंटरनेट जाना पहचाना नाम है, लेकिन भारत में इंटरनेट सेवा 15 अगस्त 1995 में तब आरंभ हुई जब विदेश संचार निगम लिमिटेड ने अपनी टेलीफोन लाइन के जरिए दुनिया के अन्य कंप्यूटर से भारतीय कंप्यूटरों को जोड़ दिया।

जनसामान्य के लिए इंटरनेट विदेश संचार निगम समिति (VSNL) के गेटवे सर्विस के साथ ही आरंभ हुआ। सन् 1998 में सरकार ने निजी कंपनियों को इंटरनेट सेवा क्षेत्र में आने की अनुमति दे दी। इंटरनेट का अर्थ होता है कम्प्यूटरों का जाल इंटरनेट हजारों नेटवर्को का एक नेटवर्क है। सारी दुनिया के नेटवर्क इस व्यवस्था से आपस में जोड़े जा सकते हैं या जुड़े हुए हैं। संसार के किसी भी कोने से कोई भी सूचना देनी या लेनी हो तो वह कुछ ही पलों में भेजी या प्राप्त की जा सकती है। इसके द्वारा व्यवसाय, स्टॉक मार्केट, शिक्षा, चिकित्सा, मौसम, खेलकूद आदि के अतिरिक्त अन्य किसी भी क्षेत्र में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। यहां तक कि यदि मन में कोई विचार आता है और हम उससे संबंधित जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं तो वह भी हमें इंटरनेट के माध्यम से प्राप्त हो सकती है। इंटरनेट एक तरह से मुद्रित दृश्य–श्रव्य माध्यमों का मिला जुला रूप है।

मोबाइल फोन– यह घर के साधारण फोन से अलग होता है। घर के फोन को एक तार के जरिए जोड़ा जाता है इसलिए इसे उठाकर कहीं नहीं ले जाया जा सकता जबकि मोबाइल फोन बिना तार के काम करता है जिसे लेकर आसानी से कहीं भी ले जाया जा सकता है। इसे जेब में रखकर ले चलने की सुविधा के कारण इनके सेट काफी छोटे–छोटे तैयार किए जाने लगे है। मोबाइल एक दूसरे से बातचीत करने के अलावा संदेश भेजने, पाने (एस.एम.एस.) फोटो खींचने और तुरंत उसे दूसरे व्यक्ति के पास भेजने, बातचीत रिकार्ड करने और उसे दूसरे व्यक्ति के पास भेजने, फिल्में देखने, गाने सुनने, समाचार सुनने के लिए भी किया जाता है।[5]

निष्कर्ष–

सोशल मीडिया आज मानव की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक है इसने मानव जीवन को सरल बनाया है आज सोशल मीडिया से लोग काफी नजदीकी महसूस कर रहे है किन्तु दूरी बढ़ाने का भी कार्य सोशल मीडिया ने किया है सामाजिक सम्बन्धों में भावनात्मक दूरी बढ़ी है और इसका सबसे अधिक प्रभाव युवा वर्ग पर पड़ा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. मैनुअल कैस्टेल्स: द पावर ऑफ कम्यूनिकेशन, 2009, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ISBN 9780199567041
2. जन मीडिया अंक 10, सन् 2013, शोध आलेख– सोशल नेटवर्किंग साइट: प्रचलित धारणाओं का मूल्यांकन, शोधार्थी, विजय प्रताप।
3. अकरम, डब्ल्यू और कुमार आर0 (2017) ए स्टडी आन पाजिटिव एण्ड निगेटिव इफेक्ट आफ सोशल मीडिया आन सोसाइटी।
4. सिद्दिकी, साबनूर और सिंह तजिन्दर (2016) सोशल मीडिया इट्स इम्पैक्ट विथ पाजिटिव एण्ड निगेटिव एस्पैक्ट, इण्टरनेशनल जर्नल आफ कम्प्यूटर एप्लीकेशन टेक्नोलॉजी एण्ड रिसर्च, वाल्यूम 1. अंक–5.
5. पटेल, के0 (2015) भारतीय संदर्भ में सोशल मीडिया, सीजन का नया स्वाद, ग्लोबल जर्नल आफ मल्टी डिसिप्लिनरी स्टडीज, 4(6): 268–270

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

आधुनिक भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति

शोध–निर्देशक
डॉ0 चन्द्रशेखर पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर समाजशास्त्र विभाग
नागरिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंघई, जौनपुर

शोध छात्रा
ऋत्विक रंजन सिंह
समाजशास्त्र विभाग
नागरिक स्नात0 महाविद्यालय, जंघई, जौनपुर

सारांश–

स्त्री समाज की आधारशिला है। माता और पत्नी के रूप में वह जिन कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्वों का निर्वाह करती है उन्हीं कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर किसी समाज की उन्नति या अवनति आधारित होती है। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति से सम्पूर्ण समाज ज्यादा प्रभावित होता है। ऐसा देखा गया है कि स्त्रियों की उन्नति एवं अवनति का इतिहास सम्पूर्ण समाज की उन्नति व अवनति का इतिहास रहा है। भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में स्त्री के विकास उसकी उन्नति, अवनति उसके संघर्ष उसको प्राप्त अधिकार और उस पर लगने वाले प्रतिबंधों की एक लम्बी कहानी है। जो इतिहास के विभिन्न कालों में स्त्रियों की भिन्न–भिन्न स्थितियों को दर्शाती है।[1]

शब्द कुंजी– स्त्री, समाज, शिक्षा, शोषण, भूमिका, सामाजिक, आर्थिक, कर्त्तव्य।

प्रस्तावना–

भारतीय धर्म ग्रन्थों, वेदों में नारी की शिक्षा, शील, गुण, कर्तव्य और अधिकारों का विशद वर्णन है। इस प्रकार का वर्णन संभवतः संसार के किसी भी धर्मग्रंथ में नहीं है। इन वेदों में सैकड़ों नारी विषयक मंत्र दिए गए हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में नारी का समाज में विशेष स्थान था तथा पुरुषों की भाँति उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में बराबर का स्थान प्राप्त था। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के समाज में नारियों को बहुत गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। स्त्रियों की शिक्षा–दीक्षा की उत्तम व्यवस्था थी। स्त्रियाँ राजनीतिक, सामाजिक तथा प्रशासनिक कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी।

संसार प्रगतिशील है, अतः स्त्रियों के कार्यक्षेत्र में भी प्रगतिशीलता है। अब वह समय नहीं रहा, जबकि स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बन्द रखा जाए। इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948–49) ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए है।[2]

"घर की देखभाल करना स्त्रियों का मुख्य कार्य है और आगे भी रहेगा। फिर भी उनका सम्बन्ध सीमित नहीं रहना चाहिए। विभिन्न परिस्थितियों के कारण उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने की आवश्यकता हो सकती है। स्त्रियों को भी समान अवसर मिलने चाहिए। स्त्री को सामाजिक बंधनों से मुक्त होकर अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए स्वयं निश्चय करने का अवसर मिलना चाहिए। कभी–कभी विवाह से पूर्व स्त्रियाँ अध्यापन और नर्सिंग का अच्छा कार्य का सकती है। कभी–कभी उन्हें पति की मृत्यु हो जाने की दशा में भी पुरिवार–पालन के लिए कार्य करना होता है। जब बच्चे बड़े हो रहे होते है तो उन्हें 10 से 25 वर्ष तक व्यस्त जीवन व्यतीत करना होता है। उस समय भी वह अच्छा कार्य कर सकती है। कभी–कभी पति–पत्नी दोनों ही एक समान पेशे में कार्य करते हैं।

''कभी–कभी पुरूषों की भांति स्त्रियों को भी घर और परिवार से बाहर रूचिपूर्ण कार्य करने का समय मिल जाता है। इन सब कारणों से उन्हें शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध होनी चाहिए।''[3]

भारतीय समाज में महिला का एक महत्वपूर्ण स्थान है तथा उसे प्रकृति की सहनशीलता एवं संरचनात्मक शक्ति का प्रतीक माना गया है। आदिम व्यवस्था से लेकर आज तक पुरुष ने सरक्षण तथा महिला ने समर्पण का भाव रखा है। यह परम्परा कब से प्रारम्भ हुई है. इसका उल्लेख करना संभव नहीं है, किन्तु प्रकृति की सहचारिणी बनकर महिला ने सृष्टि को जीवन प्रदान किया है। प्रारम्भ से ही

महिलाओं को भारतीय समाज में श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है तथा उसे सुख–समृद्धि. ज्ञान और शक्ति का प्रतीक मानकर लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा के रूप में पूजा गया है। स्त्री को पुरूष की सहधर्मिणी के रूप में उसकी अर्धांगिनी माना गया है तथा स्त्री के बिना पुरूष को अपूर्ण माना गया है। दूसरी ओर स्त्री को सहायक पात्र के रूप में ही चित्रित किया गया है। उसे पुरूष के समान अधिकार नहीं दिया गया उसे अबला, सौन्दर्य, भोग–विलास, सेविका सम्पत्ति आदि विविध रूपों में चित्रित किया गया है।[4]

रिश्तों को सुचारू रूप से चलाने में स्त्री की भूमिका अहम् होती है। स्त्री पूरे परिवार की धुरी होती है, उसके इर्द–गिर्द ही सारे रिश्तों के ताने–बाने बुने होते हैं। अगर यह कहा जाय कि स्त्री सम्बन्धों का पुल है तो किसी भी मायने में गलत नहीं होगा। मायके की दहलीज पार कर जब वह ससुराल पहुँचती है, तो अपने सेवा, समर्पण और प्रेम से नितान्त अजनबी लोगों को भी अपना बना लेती है। पुत्री के रूप में जन्म लेने वाली स्त्री रिश्तों की परिसीमा को लाँघते हुये पत्नी बनती है, फिर माँ बनकर अपने विश्वास और प्यार के सहारे नई पीढ़ी को मार्गदर्शन देती है। इस तरह पीढ़ी दर पीढ़ी नये और पुराने सम्मिश्रण में खुद को समर्पित करती हुयी वह निरन्तर प्रेम की मिसाल कायम करती है।

सम्बन्धों को सहेजने, उसे पूरी निष्ठा से निभाने और निर्विघ्न चलाने के लिऐ वह अपने स्वयं को खत्म कर खुद से यह कसम खाती है कि जिन्हें वह प्रेम करती है, उन तक दुःख और तनाव की काली छाया को कभी नहीं पहुँचने देगी। बहन, पत्नी, दोस्त और माँ सभी रिश्तों को वह सहजता से निभाती है। स्त्री अपने अधिकारों से ज्यादा अपने कर्तव्य और दायित्व के प्रति सजग रहती है। वह सम्बन्धों को निभाने व उसे पूरा करने के लिए जीवन पर्यन्त तन मन से जुटी रहती है। माँ के अलावा अन्य रिश्तों की गरिमा को समझने और निभाने होते हैं। उनके सुख के लिए अपने सुख का परित्याग करने में कभी नहीं झिझकती। उसकी सहजता और दायित्व बोध पूरे परिवार के चारो ओर सुरक्षा कवच की भाँति रहता है।

रिश्तों की अहमियत को जितना एक स्त्री समझती है, उतना कोई भी नहीं समझ पाता। उसका स्वभाव नदी के समान होता है, जो बहुत आसानी से सभी सम्बन्धों को अपने अन्दर आत्मसात कर लेती है। स्त्री में आज भी अपने घर–परिवार और रिश्तों को सहजतापूर्वक निभाने की ललक और उत्साह है। समर्पण और विश्वास का भाव आज भी उसमें पहले की भाँति ही विद्यमान है। लेकिन इन सारी चीजों के बावजूद अब उसके स्वरूप में थोडा सा बदलाव आया है।

हर समाज में स्त्री को शक्ति का प्रतीक माना गया है। पुरानी सभ्यताओं में मातृशक्ति की पूजा होती रही है। स्त्री, पुरुष की सहचरी, माँ, बहन और दोस्त के अलावा उसकी आदर्श और प्रेरणा भी है। स्त्री पूरे परिवार का केन्द्र है। उसका व्यवहार, उसकी कार्यकुशलता, उसका सहयोग ही पूरे परिवार की सुख–शान्ति को बनाये रखने का महत्वपूर्ण कारक होती है।[5]

स्त्री तो आजीवन शक्ति, सन्तुलन शक्ति है। केवल आबादी बढ़ाने वाला उपकरण मात्र नहीं हैं। स्त्री तो स्वयं प्रकृति है लेकिन दुःख यह कि प्रकृति के विनाश का पहला शिकार स्त्री ही होती है। स्त्री–पुरूष एक दूसरे के सृजन के साथी हैं, जैसे–सृष्टि सूरज से ही संभव है, उसी तरह जीवन भी स्त्री के होने से ही संभव है वह जीवन की ऊष्मा का ही दूसरा रूप है। समाज ने स्त्री के लिए जितनी भी जीवन विषम स्थितियाँ निर्मित की हों पर कुदरत ने उसे अपनी सृजन क्षमता और वरदान दिया है। स्त्री को अपनी क्षमता एवं इस वरदान को पहचानना होगा। स्त्री की स्त्री में सजगता, सहृदयता तथा जागृति और उसमें से पैदा होने वाली शक्ति सत्ता अपने महाप्रवाह में किसी को बाहर नहीं रखती, समेट लेती है, समा लेती है उसी का नाम है स्त्री।

समाज में स्त्रियों का सम्मान व आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादामुक्त रहा है, उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। परिवार व समुदाय में उनके द्वारा किये जाने वाले योगदान का सर्वदा महत्व और गौरव रहा हैं। नारी सर्वशक्ति सम्पन्न मानी गई तथा विद्या, यश,

शक्ति और सम्पत्ति की प्रतीक समझी गई। नारी मानव जाति की जननी और धात्री है, वह जीवन का स्त्रोत व सामाजिक जीवन की धुरी है, भारतीय समाज व्यवस्था में अतीत काल में उसको अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान एवं प्रस्थिति प्रदान की गई थी। इसकी स्थिति पर ही समाज का सगठन और विघटन दोनों निर्भर करता है। यह सच है कि जिस समाज में स्त्रियों की स्थिति उच्च और सम्मानीय होती है. वह समाज विकासशील माना जाता है, यही नहीं, स्त्रियाँ व्यक्तित्व के विकास और समाजीकरण में अपूर्व योगदान करती है। वह माँ, बहन और पत्नी के रूप में मानव विकास की दृष्टि से अनुपम स्थान रखती है। वे सभ्यता की प्रतीक है और एक महान शक्ति है। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय समाज संस्कृति एवं धर्म प्रधान है, इसलिए यहाँ नारियों को अत्यन्त आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।[6] स्त्री में कठिन से कठिन परिस्थितियों व संघर्ष में अपने आपको ढालने व उन संघर्षों का सामना करने की क्षमता होती है। डॉ० आशु रानी सचदेवा के अनुसार "यदि ईश्वर प्रकाश पुंज है तो नारी उसकी किरण है, जो प्रकाश को चारों ओर बिखेर देती है। यदि ईश्वर शब्द है तो नारी उसकी व्याख्या व अर्थ है।[7]

अर्थात् नारी को ईश्वर के समागम व एक–दूसरे का पूरक समझा जाता है। संसार को चलाने वाले ईश्वर ने भी नारी को माध्यम माना है। प्राचीन समय से लेकर वर्तमान समय तक नारी के प्रति पुरुष व समाज की धारणा में परिवर्तन नहीं आया। उसकी शारीरिक कमजोरी को उसकी दुर्बलता मान लिया गया। जिसके परिणामस्वरूप समाज की मानसिकता में स्त्रियाँ निर्बल हो गई। पुरुष इन्हें प्रसाधन का साधन मानने लगे और वे भोग्य के रूप में उभरी। उनके अन्दर असुरक्षा का भाव इतना भर दिया गया कि जिसका अस्तित्व वर्तमान में भी सम्पूर्ण नारी जाति में विद्यमान है। स्त्री की महत्ता कथाओं में, पुराणों में चाहे कितनी भी क्यों न हो लेकिन समाज में स्त्रियों को वह प्रतिष्ठा व सम्मान नहीं मिला जो पुरुषों को प्राप्त है। स्त्रियों को समाज में हमेशा से ही दूसरे दर्जे की प्रतिष्ठा मिली है। चाहे वह भारतीय समाज हो या पाश्चात्य समाज। नारी स्वतन्त्रता की दुर्दशा तो एक सी रही है। पुरुष ने सदैव ही नारी को हेय की दृष्टि से देखा। नारी के लज्जा, ममता व स्नेह के गुणों को नारी की दुर्बलता समझ कर पुरूष प्रधान समाज में अपनी प्रधानता के कारण निर्दोष नारी को उत्पीड़ित करता है क्योंकि प्राचीन समय से महिलाओं को शारीरिक भिन्नता के कारण निर्बल, असहाय व कमजोर करार दिया है। उसकी इन दुर्बलताओं का फायदा उठाकर पुरुष अपनी हीनता को छिपाने के लिए निर्दोष पत्नी को उत्पीड़ित करता है। पति या परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा नारी को शारीरिक व मानसिक रूप से चोट पहुँचाता है। एक नारी जो अपने पति, सास, ससुर के लिए अपने माता पिता के घर का त्याग कर देती है। सास–ससुर को माता–पिता, पति को परमेश्वर समझने वाली नारी जो उनके घर में आश्रय ढूढने आती है, उनकी सेवा के बदले में केवल भोजन, वस्त्र व आश्रय चाहती है, उस नारी को उसके पति व परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा मानसिक व शारीरिक रूप से उत्पीड़ित किया जाता है। उसके साथ पशुवत् हिंसात्मक व्यवहार किया जाता है, उसके प्रति इस प्रकार कार्य किये जाते है जिससे वह अपने आपको निःसहाय व पराधीन समझती है।

भारतीय समाज जो पुरूष अधिशासित समाज है। जहां नारी को माता, पत्नी व पुत्री के रूप में देखा जाता है। पुरुष ने नारी को सुख व सुरक्षा प्रदान की, जिसके बदले में पुरूष ने नारी के सम्पूर्ण जीवन को पुरूषाधीन कर दिया। इस पुरूष अधिशासित सामाजिक व्यवस्था में नारी को तिरस्कृत, उपेक्षित व उत्पीड़ित किया जाता है।

वैदिक युग में नारी की स्थिति न केवल अच्छी थी बल्कि अत्यन्त उन्नत भी थी। उस समय स्त्रियों की स्थिति उनके आत्म विकास, शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में प्रायः पुरुषों के समान थी, पत्नी के रूप में उसकी स्थिति बहुत ऊँची थी। दुर्गासप्तसती में यह उल्लेख है कि "हे देवी, सम्पूर्ण विधायें आपकी कला है, और सकल संसार की स्त्रियाँ आप ही का रूप है। हिन्दू संस्कृति में नारी जाति का महत्व स्पष्ट है। वह कुटुम्ब को आनन्द देने वाली है, प्रेम, दया, करूणा, धैर्य, परिश्रम और स्वार्थ त्याग की प्रतिमा। हिन्दू शास्त्रों में जहाँ नारी के कन्यापन, मातृत्व, गृहणीत्व की पूजा की गई है, माता

के रूप में उसे गौरवशाली बताया गया है, जननी के रूप में वह स्वर्ग से भी अधिक महिमाशाली है। जो भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं पर ध्यान नहीं देते और अज्ञान या पक्षपात से नारी की निन्दा करते हैं, यह हिन्दू संस्कृति में नारी का तिरस्कार हैं। संक्षेप में, स्त्री स्वयं एक आत्मा है। इस प्रकार वैदिक वांड्मय में स्त्री स्वतंत्रता, नारी शिक्षा, सम्पत्ति में अधिकार, स्त्री धन, व्यभिचारिणी स्त्री, गणिकाओं, नायिकाओं, सती प्रथा एवं अवगुंठन (पर्दा) आदि नारी प्रसंगों की सारगर्भित व्याख्या की गई है। इस युग में उनका सम्मान केवल माता के रूप में होता था न कि पत्नी के रूप में, स्त्रियों के सभी अधिकारों का अपहरण कर लिया गया।[8]

मध्यकालीन युग में स्त्रियों की दशा और भी दयनीय हो गई। ब्राह्मणों ने हिन्दू धर्म के रक्षार्थ स्त्रियों के सतीत्व तथा रक्त की शुद्धता बनाये रखने के लिए नियमों को और भी कठोर बना दिया। विवाह की आयु घट गई, पर्दा प्रथा का प्रचलन बढ गया और सती प्रथा चरम सीमा को प्राप्त हो गई। संक्षेप में, स्त्रियों के स्तीत्व की रक्षा करने के लिए इस युग में स्मृतिकारों ने उन्हें जन्म से मृत्यु तक पुरुष के अधीन कर दिया और स्त्रियों की सभी स्वतन्त्रताओं एवं अधिकारों की समाप्ति कर दी गई।

उत्तर–वैदिक काल से पुरूष का उसके प्रति अविश्वास तथा अनुत्तरदायित्व की भावना बढ़ती गई। उसे हीन एवं निम्न भावना से देखा जाने लगा और यह घोषणा की गई कि नारी कामवासना की तृप्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और कामवासना की अपेक्षा से उसको निन्दित किया गया।[9]

स्वतन्त्रता के पश्चात् स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं वे भी तेजी से। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्त्रियों ने आज हिन्दू जीवन के परम्परागत सिद्धान्तों को केवल अस्वीकार ही नहीं किया है अपितु उसे एक चुनौती भी दी है वह भी इस रूप में कि वे उन सिद्धान्तों को परिवर्तित करके ही रहेंगी जो उनकी सामाजिक स्थिति गिराने में सहयोगी सिद्ध होते हैं। इसके परिणाम स्वरूप आज स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हो गये हैं और आगे होते रहेंगे। परिवर्तन के पश्चात् आज जो स्त्रियों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में देखने को मिलता है उनकी कल्पना तो कोई कर ही नहीं सकता है। स्त्रियों की आत्मनिर्भरता पुरूषों पर से कम होने लगी और उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास करने के अवसर मिले। स्त्रियों ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए समाचार–पत्र, संचार के साधनों, पत्र–पत्रिकाओं को माध्यम के रूप में अपनाया। सामाजिक एवं पारिवारिक अधिकारों में, संयुक्त परिवारों के विघटन के साथ–साथ वृद्धि होती गई।[10]

स्त्रियाँ जिस तेजी के साथ शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति कर रही है इसकी कल्पना भी नहीं की गई थी। स्वतंत्रता से पूर्व जबकि न तो शिक्षा की समुचित सुविधाएँ उपलब्ध थी न ही माता–पिता चाहते थे कि उनकी लडकियाँ शिक्षा ग्रहण करें, इसके विपरीत स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस क्षेत्र में व्यापक प्रगति हुई है। रुढिवादी लोग आज भी स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के विरूद्ध है। वे इसे अच्छा नहीं समझते परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा, औद्योगीकरण और नवीन विचारधारा के कारण पुरूषों पर से स्त्रियों की आर्थिक निर्भरता लगातार कम होती जा रही है। निम्न वर्ग की बहुत सी स्त्रियाँ स्वतंत्रता से पूर्व भी उद्योगों एवं कार्यों के द्वारा जीविका उपार्जित करती थी लेकिन उस समय मध्यम और उच्च वर्ग की स्त्रियों द्वारा कोई आर्थिक क्रिया करना उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा के विरुद्ध था, वर्तमान में बड़ी संख्या में इस मध्यम वर्ग की स्त्रियों ने शिक्षा प्राप्त करके आर्थिक क्षेत्रों की ओर बढ़ना प्रारम्भ कर दिया है। आज वे स्त्रियों जो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है, स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका उपार्जित कर रही है, अन्य स्त्रियों के लिए एक आकर्षण है। आज उनके आत्म विश्वास, कार्यक्षमता और मानसिक स्तर में जो प्रगति हुई वह उनको मिली हुई आर्थिक स्वतन्त्रता का ही परिणाम है। आज उसकी तुलना घुँघट में अपनी सम्पूर्ण लज्जा को समेटे हुए और पुरुष के शोषण करती हुई नारी से नहीं कर सकते जो घुटन में अपना जीवन व्यतीत करती थी।

निष्कर्ष–

स्त्रियों की पारिवारिक स्थिति में आज अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जिसे पुरूष किसी समय अपनी दासी मानता था वह ही आज उसकी सहयोगी और मित्र है। आज वह परिवार में एक प्रबन्धक की स्थिति में है न कि याचिका की। आजकल शिक्षित स्त्री किसी भी दशा में अपने अधिकारों को बलिदान करके, संयुक्त परिवार के द्वारा शोषित नहीं की जा सकती है। आज वह इस बात के लिए कदापि तैयार नहीं है कि संयुक्त परिवार में उसका शोषण हो बल्कि वह एक स्वतंत्र एकाकी परिवार की स्थापना करके अपने अधिकारों का पूर्ण उपयोग करने के लिये चेष्टा करती है। स्त्री की इच्छा का महत्व बच्चों की शिक्षा, पारिवारिक आय के उपयोग, संस्कारों का प्रबन्ध और पारिवारिक योजनाजों के रूप का निर्धारण करने में निरन्तर बढ़ता जा रहा है। आज स्त्रियाँ अपने पारिवारिक अधिकारों के लिए अन्तर्जातीय विवाहों को प्राथमिकता भी दे रही है।

संदर्भ सूची–

1. कुमार, उमेश (2003), आदिवासी महिलाओं का शैक्षणिक एवं सामाजिक आर्थिक अध्ययन दिल्ली, क्लासिकल, पब्लिशिंग कम्पनी।
2. खेतान, प्रभा (2003), उपनिवेश में स्त्री, दिल्ली राजकमल प्रकाशन।
3. पाण्डेय, गया (2007), भारतीय जनजातीय संस्कृति, नई दिल्ली कांसेप्ट प्रकाशन कम्पनी।
4. मिल, जे0एस0, स्त्रियों की पराधीनता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2009
5. भाटी, कान्ता, महिला उत्पीड़न, दहेज प्रताड़ना तथा दहेज हत्या, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर (राज0), पृ0 5–12
6. लॉरेन्स जास्मिन, महिला श्रमिक सामाजिक स्थिति एवं समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2008, पृ0 6–7
7. गुप्ता, मोतीलाल, भारत में समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ0 442
8. शास्त्री, एस0आर0, वूमेन इन द वेदिक ऐज, बाम्बे, 1960, पृ0 20
9. राजकुमार, भारतीय नारी : सामाजिक अध्ययन, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ0 220
10. शर्मा, प्रज्ञा, भारतीय समाज में नारी, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर (राज0), पृ0 82, 83, 184

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

साइबर जोखिम प्रबंधन में जागरूकता की भूमिका : एक विवेचना

डॉ. सन्तराम पाल,
सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग,
आचार्य नरेंद्र देव किसान, पी.जी. कालेज ,बभनान, गोंडा (उ.प्र.)
मोबाइल– 9415348893, मेल–spal1190@gmail.com

सारांश–

आज के डिजिटलीकृत समाज में सभी को हर तरफ से आने वाले संभावित साइबर जोखिमों का सामना करना पड़ता है। जटिल व्यवसाय, आईटी सिस्टम और नेटवर्क की प्रकृति ही इन संभावित जोखिमों को बढ़ाते हैं। वे नेटवर्क की गोपनीयता, अखंडता और उपलब्धता से समझौता करने की संभावना से युक्त होते हुए तेजी से साइबर जोखिमों की ओर बढ़ जाते हैं। ''साइबर क्राइम समाज की संस्कृति के विपरीत कार्य का परिणाम है, जो सूचना तकनीकि के माध्यम से किया जाता है।''[1] साइबर जोखिम प्रबंधन की बेहतर स्थिति साइबर हमलों, क्लाउड कमजोरियों, रैंसमवेयर, मैलवेयर, डेटा उल्लंघनों और इनके बीच की हर चीज को रोकने में अधिक सक्रिय होने में मदद करता है। साइबर जोखिम प्रबंधन में सूचना प्रौद्योगिकी प्रणालियों, नेटवर्क और डेटा से संबंधित संभावित जोखिमों और खतरों की पहचान करना, मूल्यांकन करना और उन्हें कम करना शामिल है। कमजोर साइबर की स्थिति संवेदनशील जानकारी की गोपनीयता, अखंडता और उपलब्धता से समझौता करने की स्थिति बन सकती है। साइबर जोखिम प्रबंधन प्रौद्योगिकियों, प्रक्रियाओं, प्रशिक्षण कार्यक्रमों, भौतिक नियंत्रण और प्रशासनिक प्रथाओं पर जोर देती है जो अनुप्रयोगों और डेटा सहित डिजिटल संपत्तियों की रक्षा करती हैं।

एक अनुशासन के रूप में एंटी–मैलवेयर और फ़ायरवॉल कार्यान्वयन से लेकर एन्क्रिप्शन और क्रिप्टोग्राफी, पहचान और पहुंच प्रबंधन, एवं सिस्टम जानकारी की सुरक्षा के लिए उपयोग किए जाने वाले किसी भी और सभी सुरक्षा उपायों का सीधा सम्बन्ध साइबर जोखिम प्रबंधन से होता है। इसमें प्रयुक्त जोखिम शब्द मूल्यांकन और प्रबंधन खतरों को पहचानने, नियंत्रित करने, कम करने और संतुलित करने की प्रथाएं हैं। जोखिम माप, निर्णय लेने के लिए वास्तविक मैट्रिक्स के साथ एक ठोस कारक होता है। साइबर जोखिम प्रबंधन संगठनों को अपने आईटी बुनियादी ढांचे और संभावित खतरों के बीच संबंधों को समझने का एक तरीका प्रदान करता है। जोखिम विश्लेषण किसी संगठन द्वारा सामना किए जाने वाले जोखिमों को मापने की प्रक्रिया है। साइबर जोखिम प्रबंधन एक बृहद एवं प्रासंगिक अवधारणा है।

बीज शब्दः कम्प्यूटर, इन्टरनेट, अपराध, संचार, प्रौद्योगिकी, साइबर, कानून,जोखिम प्रबंधन

साइबर जोखिम प्रबंधन के घटकः

1.जोखिम की पहचान करना–

संभावित साइबर खतरों और कमजोरियों की पहचान करना जो किसी की सूचना संपत्तियों को प्रभावित कर सकते हैं। इसमें आईटी के बुनियादी ढांचे, डेटा और विभिन्न प्रौद्योगिकियों से जुड़े संभावित जोखिमों को शामिल किया जाता है।

2.जोखिम का मूल्यांकन करना–

साइबर जोखिम मूल्यांकन एक ऐसी प्रक्रिया है जो संगठनों को प्रमुख व्यावसायिक उद्देश्यों को निर्धारित करने में मदद करती है और फिर उनके उद्देश्यों को साकार करने के लिए आवश्यक उपयुक्त आईटी संपत्तियों की पहचान करती है।इसमें उन साइबर हमलों की पहचान शामिल है जो इन आईटी

परिसंपत्तियों पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकते हैं। संगठन को इन हमलों के घटित होने की संभावना निर्धारित करने और प्रत्येक हमले के प्रभाव को परिभाषित करने की आवश्यकता है।

साइबर जोखिम मूल्यांकन में संपूर्ण खतरे के माहौल का पता लगाना चाहिए और यह संगठन के व्यावसायिक उद्देश्यों को कैसे प्रभावित कर सकता है। मूल्यांकन के परिणाम से सुरक्षा टीमों और संबंधित हितधारकों को इन जोखिमों को कम करने वाले सुरक्षा उपायों के कार्यान्वयन के बारे में सूचित निर्णय लेने में सहायता मिलनी चाहिए। पहचान चरण के दौरान खोजे गए किसी भी जोखिम के संभावित प्रभाव का मूल्यांकन कर इसकी कमजोरियों का विश्लेषण करना, संभावित खतरों का आकलन करना और संबंधित जोखिम स्तर का निर्धारण करना शामिल होता है।

3.जोखिम का न्यूनीकरण–

किसी भी पहचाने गए जोखिम को कम करने के लिए उपाय लागू करना और संभावित खतरों से बचाने के लिए सुरक्षा नियंत्रण, एन्क्रिप्शन, पहुंच नियंत्रण और अन्य उपायों को लागू करने को इसमें शामिल किया जाता है।

साइबर जोखिमों के प्रकारः

1. साइबर अपराध में वित्तीय लाभ के लिए या व्यवधान उत्पन्न करने के लिए सिस्टम को लक्षित करने वाले एकल कर्ता या कोई समूह शामिल होता है। ''वह क्राइम जो कम्प्यूटर इन्टरनेट द्वारा किया जाता है वह साइबर क्राइम है।''[2]
2. साइबर हमले में अक्सर राजनीति व आर्थिक मामलों से प्रेरित जानकारी एकत्र करना शामिल होता है। ''आर्थिक मंदी कम्प्यूटर साक्षर अपराधियों को इलेक्टॉनिक घोटालों की ओर ले जा रही है।''[3]
3. साइबर आतंकवाद का उद्देश्य दहशत या भय पैदा करने के लिए इलेक्ट्रॉनिक सिस्टम को कमजोर करना है। ''साइबर तकनीकि का प्रयोग आतंकवादी गतिविधियों में सहायक उपकरण की भाँति प्रयुक्त हो रहा है। आतंकवादियों द्वारा कट्टरपंथी व समाज में विषवमन करने वाली विचारधारा को प्रसारित करने हेतु इन्टरनेट का इस्तेमाल बहुत अधिक किया जा रहा है।''[4]

मैलवेयरः

मैलवेयर का अर्थ होता है कोई भी दुर्भावनापूर्ण सॉफ़्टवेयर। यह मैलवेयर वह सॉफ़्टवेयर होता है जिसे किसी साइबर अपराधी या हैकर ने किसी वैध उपयोगकर्ता के कंप्यूटर को बाधित या क्षतिग्रस्त करने के लिए बनाया होता है। अक्सर, अनचाहे ईमेल अटैचमेंट या वैध–से दिखने वाले डाउनलोड के माध्यम से यह फैलते हुए देखा जाता है। मैलवेयर का उपयोग साइबर अपराधियों द्वारा पैसा कमाने या राजनीति से प्रेरित साइबर हमलों में किया जाता है। ''साइबर क्राइम इन्टरनेट के माध्यम से होने वाला वह अपराध है जिसके अन्तर्गत जालसाजी, चाईल्ड पोर्नोग्राफी, साइबर स्टाकिंग शामिल हैं।''[5]

वायरस–

यह एक स्व–प्रतिकृति प्रोग्राम होता है जो स्वयं को साफ़ फ़ाइल से जोड़ता है और पूरे कंप्यूटर सिस्टम में फैलकर, फ़ाइलों को दुर्भावनापूर्ण कोड से संक्रमित कर देता है।

ट्रोजन–

यह एक प्रकार का मैलवेयर होता है जो वैध सॉफ़्टवेयर के रूप में छिपा होता है। साइबर अपराधी, उपयोगकर्ताओं को अपने कंप्यूटर पर ट्रोजन अपलोड करने के लिए बरगलाते हैं जहां वे नुकसान पहुंचाते हैं या डेटा एकत्र करते हैं।

स्पाइवेयर–

यह एक प्रोग्राम होता है जो उपयोगकर्ता द्वारा किए गए कार्यों को गुप्त रूप से रिकॉर्ड करता है, ताकि साइबर अपराधी इस जानकारी का उपयोग कर सकें।

रैनसमवेयर–

यह एक ऐसा मैलवेयर होता है जो उपयोगकर्ता की फ़ाइलों और डेटा को लॉक कर देता है, फिरौती न देने पर इसे मिटाने की धमकी देता है।

एडवेयर–

यह एक ऐसा विज्ञापन सॉफ़्टवेयर होता है जिसका उपयोग मैलवेयर फैलाने के लिए किया जाता है। यह इन्टरनेट का उपयोग करते समय अनैच्छिक रूप से प्रदर्शित होने वाले विज्ञापनों के सहारे हमारे सिस्टम को अपना शिकार बनाता है।

बॉटनेट–

यह एक ऐसा सॉफ़्टवेयर होता है जो मैलवेयर से संक्रमित कंप्यूटरों के नेटवर्क का उपयोग साइबर अपराधी को उपयोगकर्ता की अनुमति के बिना ऑनलाइन कार्य करने के लिए किया जाता है।

एसक्यूएल–

संरचित भाषा क्वेरी इंजेक्शन एक प्रकार का साइबर–हमला है जिसका उपयोग डेटाबेस से डेटा को नियंत्रित करने और चुराने के लिए किया जाता है। साइबर अपराधी दुर्भावनापूर्ण कथन के माध्यम से डेटाबेस में दुर्भावनापूर्ण कोड डालने के लिए डेटा–संचालित अनुप्रयोगों में कमजोरियों का फायदा उठाते हैं। इससे उन्हें डेटाबेस में मौजूद संवेदनशील जानकारी तक पहुंच मिल जाती है।

फ़िशिंग–

फ़िशिंग तब होती है जब साइबर अपराधी पीड़ितों को ऐसे ईमेल से निशाना बनाते हैं जो किसी वैध कंपनी से आते प्रतीत होते हैं और संवेदनशील जानकारी मांगते हैं। फ़िशिंग हमलों का उपयोग अक्सर लोगों को क्रेडिट कार्ड डेटा और अन्य व्यक्तिगत जानकारी सौंपने के लिए धोखा देने के लिए किया जाता है।

बीच–बीच में हमला–

मैन–इन–द–मिडिल हमला एक प्रकार का साइबर खतरा है जहां एक साइबर अपराधी डेटा चुराने के लिए दो व्यक्तियों के बीच संचार को बाधित करता है। एक हमलावर पीड़ित के डिवाइस और नेटवर्क से पारित होने वाले डेटा को रोक सकता है।

सर्विस से इनकार–

डिनायल–ऑफ–सर्विस हमला वह है जहां साइबर अपराधी नेटवर्क और सर्वर पर ट्रैफिक भरकर कंप्यूटर सिस्टम को वैध अनुरोधों को पूरा करने से रोकते हैं। यह सिस्टम को अनुपयोगी बनाकर महत्वपूर्ण कार्यों को करने से रोकता है। यह एक छद्म अवरोध होता है।

साइबर जोखिम प्रबंधन में जागरूकता की भूमिकाः

वर्तमान और भविष्य की जरूरतों को संतुलित करना–

कभी–कभी, आईटी और बिजनेस लीडर खुद को तात्कालिक महत्वपूर्ण मुद्दों और दीर्घकालिक योजना के बीच निर्णय लेते हुए चूक जाते हैं। भविष्य के खतरों और वर्तमान व्यय को संतुलित करते समय यह तथ्य अधिक जटिल हो जाता है। प्रभावी साइबर जोखिम प्रबंधन में यह समझना बहुत महत्वपूर्ण होता है कि अभी और भविष्य के जोखिम प्रबंधन में संतुलन कैसे लाया जाए।

एज डिवाइसेस को सुरक्षित करना–

साइबर सिस्टम के कुछ सबसे जोखिम भरे और सबसे कमजोर पहलू हर दिन उपयोग किए जाने वाले डिवाइस ही हैं जो उपयोगकर्ताओं और हैकर्स के संपर्क में आते हैं। इसमें मोबाइल डिवाइस, वेबसाइट इंटरफेस और इंटरनेट–ऑफ–थिंग्स नोड्स आदि शामिल हैं। एक सफल साइबर जोखिम प्रबंधन के लिए उपयोग में आने वाले उपकरणों के लिए आवश्यक सुरक्षा का उचित मूल्यांकन करना महत्वपूर्ण होता है।

डेटा प्रवाह की मैपिंग–

जो संगठन यह नहीं जानते कि उनका डेटा आईटी सिस्टम के माध्यम से कैसे चलता है, वे उस डेटा के जोखिम को प्रभावी ढंग से नहीं समझ सकते हैं। जो लोग आईटी ट्रैकिंग और डैशबोर्ड का उपयोग करके इन प्रवाहों को मैप करते हैं, वे समझ सकते हैं कि उनकी सुरक्षा परिधि कहां तक है, जटिल सिस्टम कैसे इंटरैक्ट करते हैं, और अंततः उनके कमजोर बिंदु कहां होते हैं।

व्यावसायिक नेतृत्व को जोखिम के बारे में बताना–

कई बार व्यावसायिक एवं आईटी नेतृत्व, साइबर जोखिम प्रबंधन के निर्णय लेने को लेकर आमने–सामने हो सकते हैं। आईटी नेतृत्व को संगठन में किसी भी जोखिम के निहितार्थ और खतरों के बारे में व्यावसायिक नेतृत्व को बताना चाहिए और उन व्यावसायिक नेतृत्व को संगठनों के सामने आने वाले वास्तविक जोखिमों को समझते हुए सूचित निर्णय लेने की अनुमति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

साइबर जोखिम प्रबंधन को एकीकृत करना–

व्यावसायिक संगठनों को अपने डेटा, ग्राहकों और कर्मचारियों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए साइबर जोखिम प्रबंधन को अपनी व्यापक व्यावसायिक रणनीतियों में एकीकृत करना चाहिए। स्पष्टतः नेटवर्क, सिस्टम, प्रोग्राम और डेटा को दुर्भावनापूर्ण हमलों से बचाने की प्रथा डिजिटल युग में तेजी से बढ़ रही है। ऐसा करके वे मालिकाना जानकारी, ग्राहक डेटा, वित्तीय जानकारी, पहचान की चोरी, धोखाधड़ी या प्रतिष्ठा को नुकसान पहुंचाने से बचा सकते हैं। जैसे–जैसे डिजिटल तकनीक विकसित होती जा रही है, व्यवसायों के लिए अपनी डिजिटल संपत्तियों के साथ–साथ अपनी भौतिक संपत्तियों की सुरक्षा करना भी महत्वपूर्ण होता जा रहा है।

साइबर जोखिम मूल्यांकन के लिए अभ्यास–

साइबर जोखिम प्रबंधन कार्यक्रम को उद्यम के ढांचे में पूरी तरह से न केवल शामिल किया जाना चाहिए, बल्कि इसके मूल्यांकन का निरंतर अभ्यास भी उद्यम–जोखिमों के विश्लेषण और वर्गीकरण के लिए आयोजन सिद्धांत के रूप में किया जाना चाहिए। साइबर जोखिम प्रबंधन की रूपरेखा का उपयोग भी सामान्य दिशानिर्देश के रूप में नहीं, बल्कि आयोजन सिद्धांत के रूप में किया जाना चाहिए।

विनियमों का अनुपालन–

साइबर जोखिम प्रबंधन, जीडीपीआर, एचआईपीएए और पीसीआई डीएसएस जैसे नियमों का अनुपालन करने के लिए संगठनों को सक्रिय बनाये रखने में मदद करता है। एक मजबूत जोखिम प्रबंधन रणनीति संगठनों को इन नियामक नियमों का अनुपालन करने और बनाए रखने के लिए प्रेरित करता है।

बेहतर निर्णय लेने की क्षमता–

साइबर जोखिम प्रबंधन, संभावित जोखिमों और उनसे जुड़े परिणामों को समझने, साइबर सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए संसाधनों के अधिक प्रभावी आवंटन और सिस्टम डिज़ाइन करने की प्रक्रियाओं को प्रभावी करने के लिए आवश्यक निर्णय लेने के लिए सक्रिय बनाता है।

बेहतर दृश्यता–

साइबर जोखिम प्रबंधन संगठनों को उनकी साइबर सुरक्षा की स्थिति में अधिक दृश्यता प्रदान कर सकता है और उन क्षेत्रों की पहचान करने में मदद कर सकता है, जहां अतिरिक्त सुरक्षा नियंत्रण की आवश्यकता हो सकती है। इससे संगठनों को अपने सुरक्षा परिदृश्य को बेहतर ढंग से समझने और संभावित खतरों का जवाब देने के लिए बेहतर ढंग से तैयार होने में मदद मिल सकती है।

कुशल सुरक्षा रणनीति–

साइबर जोखिम प्रबंधन प्रक्रियाएँ संगठनों को उन खतरों पर ध्यान केंद्रित करके अधिक कुशल सुरक्षा रणनीति विकसित करने में मदद करती हैं जो किसी संगठन के लिए सबसे बड़ा जोखिम पैदा करते हैं या जोखिम की संभावना को रेखांकित करते हैं। यह संगठनों को अपने सुरक्षा जोखिम प्रबंधन

के प्रयासों को प्राथमिकता देने और संसाधनों को अधिक कुशलता से आवंटित करने की संस्तुति करता है।

साइबर सुरक्षा के ढाँचे–

साइबर जोखिम प्रबंधन कोई तदर्थ प्रक्रिया नहीं है। हालांकि, यह सच है कि व्यवसाय अपने लिए केवल वही मैट्रिक्स बनायेंगे जो उनकी अद्वितीय उद्यम आवश्यकताओं के अनुरूप होंगे, जोखिम प्रबंधन के लिए कई अन्य प्रक्रियाएं और दृष्टिकोण भी उपलब्ध हैं जो समय की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

एनआईएसटी–

राष्ट्रीय मानक और प्रौद्योगिकी संस्थान, अनुपालन आवश्यकताओं और सर्वोत्तम प्रथाओं को परिभाषित करने के लिए सरकारी एजेंसियों द्वारा उपयोग किए जाने वाले तकनीकी मानकों को प्रकाशित करता है। यह संस्थान पिछले 10 से 15 वर्षों से संघीय प्रौद्योगिकी नियमों द्वारा किए गए अभिविन्यासिक परिवर्तनों में से एक साइबर सुरक्षा अनुपालन में एक प्रेरक शक्ति के रूप में जोखिम पर ध्यान केंद्रित करता रहा है। एनआईएसटी वास्तव में सुरक्षा और अनुपालन दस्तावेजों का एक संग्रह है जो संघीय साइबर सुरक्षा प्रयासों को रीढ़ प्रदान करता है।

आईएसओ 31000–

साइबर जोखिम प्रबंधन में मानकीकरण के लिए यह अंतर्राष्ट्रीय संगठन, एनआईएसटी की तरह, तकनीकी मानकों को प्रकाशित करता है जिनका पालन कोई भी संगठन सुरक्षित और संगत प्रौद्योगिकियों को लागू करने के लिए कर सकते हैं। हालांकि, एनआईएसटी के विपरीत, आईएसओ एक सरकारी आवश्यकता नहीं है, बल्कि एक वैकल्पिक आवश्यकता है जिसे कोई भी व्यावसायिक व अन्य संगठन अपने सिस्टम को सुरक्षित करने के लिए लागू कर सकते हैं।

निष्कर्ष:

साइबर जोखिम प्रबंधन में निजी जागरूकता, जागरूकता कार्यक्रम एवं राष्ट्रीय जन जागरूकता प्रयासों की महती भूमिका है जिसका उद्देश्य साइबर खतरों की समझ को बढ़ाना और जनता को ऑनलाइन स्तर पर सुरक्षित बनाने के लिए सशक्त करना है। यह एक साझा जिम्मेदारी है और हम सभी को इसमें अपनी भूमिका निभानी है। जब हम सभी ऑनलाइन सुरक्षित रहने के लिए घर पर, कार्यस्थल पर और अपने समुदायों में इंटरनेट का सुरक्षित उपयोग करना अनुभव करने लगेंगे तब सही मायने में इसका उद्देश्य पूर्ण होगा। साइबर जोखिम प्रबंधन, सुरक्षित ऑनलाइन व्यवहार और प्रथाओं को बढ़ावा देने के लिए संघीय और राज्य सरकारों, उद्योग और गैर–लाभकारी संगठनों के बीच एक अभूतपूर्व समंवयन का हिस्सा है। यह एक अद्वितीय सार्वजनिक–निजी भागीदारी के रूप में समझा जाना चाहिए।

आज, अधिक से अधिक लोग नई प्रौद्योगिकियों का उपयोग कर रहे हैं और अधिक समय ऑनलाइन बिता रहे हैं। ''सूचना–संचार प्रौद्योगिकी ने अपने पाँव इस कदर पसार लिए हैं कि सात समुन्दर पार बैठा व्यक्ति कुछ ही क्षणों में वह जानकारी जुटा लेता हैं जो उसे सामान्य रू‍प से मिलना असम्भव है।''[8] प्रौद्योगिकी पर हमारी बढ़ती निर्भरता, साइबर हमलों के बढ़ते खतरे के साथ मिलकर, हमारी ऑनलाइन दुनिया में अधिक साइबर जोखिम प्रबंधन की मांग करती है। जागरूकता उनकी सुरक्षा सुनिश्चित करने में मदद करती है। आसानी से समझ में आने वाले संसाधनों, प्रक्रियाओं और युक्तियों की आवश्यकता, व्यक्तियों को ऑनलाइन खुद को सुरक्षित रखने में निर्णायक हो जाती है।

साइबर जोखिम प्रबंधन का ज्ञान एवं प्रशिक्षण लोगों के विश्वास और आत्मविश्वास को बढाने के अलावा व्यवसाय संचालन की निरंतरता सुनिश्चित करने में भी मदद करता है। क्योंकि, सुरक्षा उल्लंघन के कारण व्यवसाय संचालन में कोई भी व्यवधान लाभप्रदता और प्रतिष्ठा पर गंभीर प्रभाव डाल सकता है।

साइबर जोखिम प्रबंधन को न केवल सभी रणनीतिक योजनाओं और पहलों में शामिल किया जाना चाहिए, बल्कि इसके बुनियादी ढांचे को अद्यतन और बेहतर बनाने के लिए निरंतर प्रयास भी होना

चाहिए। संगठनों को अपनी वर्तमान सुरक्षा स्थिति का आकलन करना चाहिए और जोखिम प्रबंधन, डेटा सुरक्षा और घटना प्रतिक्रिया को सशक्त करने वाली योजनाएं विकसित करनी चाहिए। व्यवसायों को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि उनके सभी कर्मचारी उचित रूप से प्रशिक्षित, सशक्त हों और उनके पास कंपनी की संपत्ति की सुरक्षा के लिए आवश्यक उपकरण हों। इसके अतिरिक्त, व्यवसायों को नवीनतम साइबर सुरक्षा के खतरों और रुझानों के बारे में सूचित रहना चाहिए, और अंततः एक ऐसी प्रभावी सुरक्षा संस्कृति बनानी चाहिए जो पूरे संगठन व समाज में सुरक्षा प्रथाओं को बढ़ावा देती रहे।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

1.Goel Abha, ''Cyber Crime", Journal of Asia for Democracy and Development, vol-xv, no-4, 2015, pp-83&85

2.रंजन रजीव, ''कम्प्यूटर ज्ञान एवं सूचना प्रौद्योगिकी'', उपकार प्रकाशन आगरा, 2016,पृ. 172.

3.रंजन रजीव, ''कम्प्यूटर ज्ञान एवं सूचना प्रौद्योगिकी'', उपकार प्रकाशन आगरा, 2016,पृ. 172

4.उदयवीर सिंह, साइबर अपराध चुनौतियाँ एवं समाधान, Journal of Asia for Democracy and Development, vol-xv, no-4, 2015, pp-73

5.शाक्य ललिता, 'साइबर अपराध एक आकलन', Journal of Asia for Democracy and Development, vol-xv, no-4, 2015, pp-83&85

6.उपाध्याय ज्योति, ''रिसर्चलाइन अन्तर्राष्ट्रीय जर्नल'', अगस्त–अक्टूबर, 2016,पृ-42.

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

राजाराम मोहन राय के समाज सुधार विषयक विचारःएक विमर्श

डॉ. जयप्रकाश यादव
एसोसिएट प्रोफेसर
समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी।

शोध सार:
राजा राम मोहन राय भारतीय पुनर्जागरण के जनक थे। भारत में नये युग की शुरूआत इन्हीं से होती है। भारतीय समाज का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसे उन्होंने नवीन दिशा न दी हो। यहाँ तक कि भारतीय राष्ट्रवाद भी इन्हीं से प्रारम्भ होता है। नेहरू, गांधी, गोखले और चितरंजनदास इनके आदर्शों के समर्थक थे। राजा राम मोहन राय यद्यपि अपने सामाजिक और राजनीतिक विचारों को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत न कर सके क्योंकि समाज सुधारक के रूप में उन्होंने जो समस्यायें झेलीं, उन्हीं की प्रतिक्रियास्वरूप उनके विचार उद्‌भूत हुए, इसीलिए उनके विचारों में कुछ विसंगतियां रह गईं, फिर भी उन्होंने धर्म, समाज का जो सम्बन्ध निरूपित किया, विश्वबन्धुत्व और मानवतावाद का जो संदेश दिया है, जाँत–पाँत की विषाक्तता, भाषाओं, रीति–रिवाजों, आचारों की विविधता तथा स्थानीय वैमनस्य और पूर्वाग्रह के होते हुए भी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भारत को एक इकाई माना, स्वतंत्रता की जो अवधारणा प्रस्तुत की, एक अर्थशास्त्री की तरह जिस तरह पाश्चात्य प्रगतिशील विचारधारा को भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप ढालकर उसे प्रस्तुत किया, वह सराहनीय है। उनकी रुचि उन कार्यों में थी जिनका आधुनिकीकरण करके देशवासियों के बौद्धिक जीवन में सुधार किया जा सकता था। इस सम्बन्ध में उन्होंने सोचा था कि अंग्रेजी ही ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा इस प्रकार का परिवर्तन लाया जा सकता है, पाश्चात्य विचारों, प्रतिनिधि संस्थाओं तथा विज्ञान का आगमन अंग्रेजी के माध्यम से ही सम्भव था। इसके पीछे देशवासियों के लिए कोई तात्कालिक लाभ या सुख प्राप्त करने का लक्ष्य नहीं था बल्कि जनमानस को रूढ़िवादिता से मुक्त कराना ही इसका ध्येय था।

मुख्य शब्दः *राजा राममोहन राय,भारतीय, समाज धर्म*।

भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन के प्रमुख सूत्रधार थे–राजाराम मोहन राय। उनका जन्म 22 मई, 1772 ई० में बंगाल प्रान्त के बर्दवान जनपद के राधानगर ग्राम में हुआ था। वे ब्राह्मण जाति के थे। कलकत्ता में आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त उन्हें पटना भेज दिया गया जहाँ रहकर उन्होंने अरबी एवं फारसी भाषाओं का विधिवत् अध्ययन किया। पटना से शिक्षा–प्राप्ति के उपरान्त वह पुनः अपने पिता के पास राधानगर चले आए। इस बीच वे मूर्ति–पूजा के बड़े विरोधी हो चुके थे। इस सम्बन्ध में उनकी हठधर्मिता पिता को पसन्द न आई। फलस्वरूप राम मोहन राय घर छोड़कर भाग गए। वे भारत के विभिन्न भागों का भ्रमण करने के उपरान्त अन्ततः तिब्बत पहुँचे। वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त किया। फिलहाल, उनके जीवन के प्रारम्भिक तीस वर्षों का व्यौरेवार इतिहास अज्ञात है। उनके लेखनों से यह अवश्य पता चलता है कि वह अरबी, फारसी, बंगला, संस्कृत आदि भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के भी अच्छे जानकार थे। राजा राम मोहन राय ने 1805 ई० में फारसी भाषा में **तुहफत–उल–मुवहहिद्दीन** नामक अपने प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इसमें उन्होंने एकेश्वरवाद की प्रशंसा, विश्व के प्रमुख धर्मो का तर्क तथा मानवीय समाज की सुविधा के आलोक में विश्लेषण किया। उन्होंने मूर्ति–पूजा का खण्डन किया तथा धर्म को केवल विश्वास के स्तर पर ही स्वीकार्य बताया, न कि मिथक अथवा चमत्कार आदि पैदा करने के अर्थ में। राम मोहन राय ने 1809 ई० से 1814 ई० तक कई स्थानों पर नौकरी भी की। लेकिन उनके द्वारा संचालित सामाजिक सुधार का कार्य 1814 ई० से अंग्रेजी राज्य की राजधानी कलकत्ता में स्थायी रूप से बस जाने के बाद ही चल

पाया। कलकत्ता में वे ऐसे अनेक मनीषी लोगों के सम्पर्क में आए, जो पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित थे। राजा राम मोहन राय ने उन्हें भारतीय दर्शन एवं अध्यात्मवाद से परिचित कराकर उनको अपने सुधारपरक कार्यों के साथ जोड़ने में सफलता प्राप्त की।

1815 ई० में उन्होंने **आत्मीय सभा** का शुभारम्भ किया। इसका उद्देश्य तत्कालीन समाज में एकेश्वरवाद का प्रचार करना था। अपने सहयोगियों की सहायता से 1825 ई० में उन्होंने एक वेदान्त कालेज की स्थापना की। उसी वर्ष उन्होंने केन, ईश, मुण्डक तथा कठ आदि उपनिषदों पर भाष्य एवं अनुवाद तैयार करना शुरू किया। 1820 ई में उन्होंने **दी प्रीसेप्ट् ऑफ जीसस दी गाइड टु पीस ऐण्ड हैपीनेस** पुस्तक प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने ईसाई धर्म एवं सिद्धान्त को तो बिल्कुल सही, किन्तु उसमें प्रचलित कर्मकाण्डों की आलोचना की। फलस्वरूप 1820 ई० से 1823 ई० तक श्रीरामपुर के ईसाई पादरियों से उनका गम्भीर विवाद चलता रहा। उन्होंने इसी विवाद के दरम्यान **अपील्स टु दी क्रिश्चियन पब्लिक** नामक तीन पत्रों को प्रकाशित करवाया। इनमें उन्होंने बड़े तार्किक ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ईसा मसीह ईश्वर के न तो पुत्र हैं और न ही ईसाईयों का फादर, सन तथा होलीबोस्ट जैसा ईश्वरत्रय का सिद्धान्त ही विशेष समीचीन है। अपने इन लेखों में राम मोहन राय ने बाइबिल तथा अन्य ईसाई धर्म–ग्रन्थों में अपनी निष्णातता का जो परिचय दिया, उससे सारा वैदुष्य–समाज चकित रह गया। उन्होंने ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दू धर्म का मजाक उड़ाने की प्रवृत्ति पर कड़ी आपत्ति प्रस्तुत की तथा इसे उनकी धार्मिक सूझबूझ न कहकर शासकीय मनोवृत्ति का प्रतिफल बताया। राजा राममोहन राय ईसाई पादरियों के आलोचक तो थे ही, साथ ही उनसे कहीं आलोचक अपने हिन्दू धर्म एवं समाज के थे। वे इस धर्म में व्याप्त रूढ़ियों को समाप्त कर हिन्दू समाज को एक नया एवं स्वस्थ रूप प्रदान करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से 20 अगस्त, 1928 ई० को उन्होंने **ब्रह्म समाज** की स्थापना की। उसके आलोचक उन्हें पूर्णतया भारतीय न कहकर ईसाई धर्म का प्रतिक्रियावादी मानते थे। कुछ एक आलोचक तो ऐसा भी सोचने लगे थे कि राममोहन राय का कुल मतलब हिन्दू धर्म का ईसाई जैसा साफ रूप तैयार करना था, ताकि ईसाई पादरियों द्वारा इस धर्म की आलोचना न की जा सके। फलतः विरोधियों ने राधाकान्त देव की अध्यक्षता में ब्रह्म समाज के विरोध में धर्म सभा की स्थापना की। दोनों पक्षों ने एक दूसरे के विचारों के खण्डन–मण्डन के लिए अलग–अलग समाचार पत्रों का प्रकाशन भी शुरू किया। धर्म समाज ने समाचार **चन्द्रिका** का तथा ब्रह्म समाज ने **संवाद कौमुदी** नामक पत्रिका निकालना प्रारम्भ किया। दोनों पत्रिकाओं में लम्बे समय तक लिखित संवाद चलता रहा। राजा राममोहन राय ने 1815 ई० में आत्मीय सभा, 1816 ई० में वेदान्त कालेज तथा 1819 ई० में कलकत्ता में ही यूनिटेरियन सोसाइटी की स्थापना की। यूनिटेरियन सोसाइटी के अधिकांश सदस्य यथा–प्रसन्न कुमार टैगोर, द्वारका नाथ टैगोर आदि पहले आत्मीय सभा के सदस्य रह चुके थे। लेकिन इस सभा के कतिपय सदस्य अंग्रेज थे तथा वे पेशे से वैरिस्टर थे। कुछ भी हो, इस सोसाइटी के फलस्वरूप ईसाई समाज में राममोहन राय की छवि कुछ उजली अवश्य हुई थी।

धर्म–सुधारक

राजा राममोहन राय विश्व के सभी प्रमुख धर्मों के विद्वान् अध्येता थे। उनके अनुसार हिन्दू, बौद्ध, जैन, इस्लाम तथा ईसाई आदि सभी धर्मों में ईश्वर की सत्ता को परम सत्य माना गया है। लेकिन उनमें द्वन्द्व केवल कर्मकाण्डों की भिन्नता को लेकर होता है। अतः कर्मकाण्डों की निस्सारता को समझने तथा समझाने की आवश्यकता है। एतदर्थ उन्होंने व्यापक हिन्दू धर्म का अध्ययन किया तथा वेदों एवं उपनिषदों की नयी ब्याख्या अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया, जिसका बाद में बंगला भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया गया। वे हिन्दू धर्म में स्थापित मूर्ति–पूजा, पशुबलि तथा अन्य कर्मकाण्डों के सम्पादन के विरोधी थे। वेदों एवं उपनिषदों में प्रस्तुत ज्ञान के आधार पर वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि हिन्दू धर्म में अनुपयोगी ऐसे कर्मकाण्डों का कोई महत्व नहीं है। वे एक ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखते थे। अपने इसी दर्शन को प्रचारित करने के लिए उन्होंने आत्मीय समा, यूनिटेरियन सोसाइटी तथा ब्रह्म समाज की

स्थापना की थी। ब्रह्म समाज में संसार के सभी धर्मो की श्रेष्ठतम बातों को सम्मिलित किया गया। उसमें उपनिषदों का दर्शन एवं एकेश्वरवाद, इस्लाम का एकेश्वरवाद तथा ईसाई धर्म की नैतिकता के सिद्धान्तों को सम्मिलित किया गया। उनके सभा–भवन को वह कोई भी प्रयोग में ला सकता था, जो एकेश्वरवादी तथा मूर्ति–पूजा का विरोधी हो।

समाज–सुधारक

राजा राममोहन राय ने हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों का कड़ा विरोध किया। उन्होंने नैतिकता तथा मानवता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बौद्धिक स्तर पर मनुष्यों में एकता तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करना अपना जीवन लक्ष्य बना लिया था। वह बहु–विवाह, बाल–विवाह, जाति–प्रथा, कुलीन–प्रथा, सती–प्रथा तथा बाल–हत्या आदि के घोर विरोधी थे। इसके साथ ही वे स्त्री–शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह तथा विधवा–विवाह आदि को प्रश्श्रय देते थे। सती प्रथा के विरुद्ध चलाए जा रहे उनके अभियान को गंभीरतया समझ लेने के बाद लार्ड विलियम बेन्टिक ने 1829 ई० में उसे सामाजिक अपराध मानकर कानून के विरुद्ध घोषित कर दिया। राजा राममोहन राय ने 1822 में **ब्रीफ रिमार्कुस रिगार्डिंग मार्डर्न एनक्रोचमेण्ट्स ऑफ दी ऐसेस्ट्रल राइट्स ऑफ फीमेल्स** नामक पुस्तक लिखकर हिन्दू समाज में स्त्री–अधिकारों को उजागर किया। 1830 ई० में उन्होंने **एसेज ऑन दी राइट ऑफ हिन्दूज ओवर ऐन्सेस्ट्रल प्रापर्टी एकार्डिंग टु दी लॉ ऑफ बंगाल** नामक लेख प्रकाशित करके हिन्दू संपत्ति में स्त्रियों के कानूनी अधिकारों की व्याख्या प्रस्तुत की। उनकी दृष्टि में पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी आदरणीया तथा सम्पत्ति की समान अधिकारिणी हैं। अतः हिन्दू समाज में स्त्रियों को समानता का भाव एवं आदर मिलना चाहिए। राजा राममोहन राय पारम्परिक भारतीय समाज को जागरूक बनाने के लिए पाश्चात्य शिक्षा–प्रणाली के साथ–साथ आंग्ल–भाषा के माध्यम से शिक्षा दिए जाने के पक्षधर थे। उन्होंने देशवासियों को अंग्रेजी शिक्षापद्धति से जुड़कर ज्ञान के नूतन क्षेत्रों से जुड़ जाने के लिए सचेष्ट किया। इसी उद्देश्य से 1817 ई० में उन्होंने कलकत्ता में हिन्दू कालेज की नींव डाली। इतना ही नहीं कलकत्ता में अपने खर्चे से उन्होंने एक इंगलिश स्कूल भी खोल रखा था । 1825 ई० में उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य जीवन–दर्शन में सामंजस्य स्थापित करने के लिए **वेदान्त कालेज** की स्थापना की। राम मोहनराय अंग्रेजी भाषा के कई कारणों से समर्थक थे। इनमें एक प्रमुख कारण तो यह था कि वे भारत को यूरोपीय आभिजात्यता के समतुल्य बनाना चाहते थे। उन्हें यह विश्वास था कि अंग्रेजी के ही कारण यूरोप दुनिया में अपना वर्चस्व स्थापित कर रखा है। यही कारण है कि उन्होंने लार्ड विलियम बेन्टिक के समय में अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम घोषित किए जाने का खुलकर समर्थन किया। राजा राममोहन राय प्रेस की आजादी के प्रवल समर्थक थे। यहीं कारण है कि 1823 ई० में अंग्रेजी हुकूमत द्वारा जारी प्रेस कानूनों का उन्होंने विरोध किया। उन्होंने 1819 में संवाद–कौमुदी नामक पहली बंगला–पत्रिका का सम्पादन शुरू किया। 1822 ई० में **मिरातुल–अखबार** नामक एक फारसी पत्रिका के प्रकाशन को प्रकाशित किए जाने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। वह मृत्युपर्यन्त प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते रहे। राजा राममोहन राय मुख्यतः अपने धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के लिए विश्वविख्यात हैं। परन्तु उनकी सोच राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रीय होने के साथ ही साथ वैचारिक स्तर पर अन्तरर्राष्ट्रीय भी थी। आंग्ल–भाषा का अध्ययन–अध्यापन, प्रेस की आजादी, विश्व के सभी धर्मों में प्राप्य एकेश्वरवाद की पुनर्स्थापना आदि क्रान्तिकारी विचार उनके अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। वे भारत को आजाद देश के रूप में देखने के साथ ही साथ दुनिया के किसी भी देश को गुलाम नहीं देखना चाहते थे। वे प्रत्यक्ष रूप से भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन से नहीं जुड़े थे परन्तु अपने क्रान्तिकारी विचारों से वह आन्दोलन की भूमि अवश्य तैयार कर रहे थे। वह स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पूर्व विशाल भारतीय समाज में जागृति का क्रान्तिनाद करने का कार्य कर रहे थे।

इस प्रकार, राजा राममोहन राय भारत के महानतम सपूतों में अग्रगण्य माने जा सकते हैं। इतिहासकार के०एम० पणिक्कर ने उन्हें भारत में पंथ–निरपेक्ष आन्दोलन का जन्मदाता कहा है। सर

मोनियर विलियम ने उन्हें विश्व के धर्मो का गम्भीर अध्येता तथा उनके तुलनात्मक अध्ययन का प्रथम शोधकर्ता बताया है। इसी प्रकार, एच०सी०ई० जकारिया ने उन्हें विगत एक शताब्दी में उत्तेजना पैदा करने वाले सुधार आन्दोलनों का जन्मदाता तथा पुनर्जागरण आन्दोलन का महान् पुरोधा कहा है। 1833 ई० में राजा राममोहन राय की मृत्यु हो गयी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

1. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय।
2. डी.सी.शर्मा, हिन्दूइज्म : एजेस।
3. के.एम.,पण्णिकर, दि फाउण्डेशन ऑफ न्यू इण्डिया।
4. सिंह वी. एन. एवं सिंह जनमेजय, भारत में सामाजिक आन्दोलन, 2007, रावत पब्लिकेशन्स जयपुर ।
5. देसाई, ए.आर, सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, 1976, पॉपुलर प्रकाशन, बाम्बे।
6. चन्द, तारा, हिस्ट्री ऑफ दि फ्रीडम मूवमेंट एन इंडिया,1967, गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया पाकीकेशन्स, नई दिल्ली।
7. दुबे एच एनः भारतीय संस्कृति एवं कला, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1999।
8. हसनैन नदीम, समकालीन भारतीय समाज एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, 2011, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

स्वच्छता का सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

संजय कुमार
शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,वाराणसी

सारांशः–
स्वच्छता प्रत्येक मानव की अनिवार्यता व आवश्यकता है। इसके उपयोग व महत्व को निर्विकल्प कह सकते हैं। स्वच्छता के सन्दर्भ में विविध प्रकार के दृष्टिकोण है तथा स्वच्छता की विविध नजरियों से पहचान प्राप्त की गयी है। स्वच्छता की जरूरतें अनिवार्य हैं। स्वच्छता मानव जीवन के लिये एक अनिवार्य तत्व है। स्वच्छता के अन्तर्गत दो रूपों का परिचय प्राप्त होता है। इन्हीं दशाओं को इस पेपर में प्रस्तुत किया गया है।

मुख्य शब्दः– स्वच्छता, धर्म, विचार, संस्कृति, प्रदूषण, स्वास्थ्य, कला, पर्यावरण, मूल्य आदि।

बाहरी (बाह्य) स्वच्छता के आयाम जैसे– आर्थिक, सामाजिक, सामूहिक, शुद्ध व सात्विक विचार शुद्ध वाणी, धर्म आदि तत्व सम्मिलित है और स्वच्छता अपनाने से सामाजिक विकास व सुख समृद्धि प्राप्त होती है। देश में स्वच्छता से लोगों के सामाजिक प्रभाव के साथ स्वास्थ्य व आर्थिक प्रभाव पड़ता है। विश्व स्तर पर आज भी भारत स्वच्छता के स्तर से पिछड़ा हुआ है। नगरों में बहुत भीड़–भाड़ युक्त वातावरण, मल–मूत्र बहने की व्यवस्था नहीं, शौचालय का अभाव, प्रदूषण युक्त हवा, गंदे आवास तथा नदी–तालाबों में गंदगी आदि के प्रति राज्य तथा सार्वजनिक व व्यक्तिगत लोगों की जिम्मेदारी होती है। स्वच्छता सभी लोगों की स्वास्थ्य का प्रथम लक्ष्य है, लेकिन भारत में प्रबंधन की कमी है। देश में जितने स्वच्दता सम्बन्धी नियत नीति बने है। उसकी अवहेलना की जाती है। आज भारत के स्वच्छता की कमी से गरीबी, चिकित्सा सेवा की असुविधा होती है, पर्यावरण को हानि पहुँचती है।

टायलर के अनुसार, समाज में सदृश्य के रूप में मनुष्य के द्वारा प्राप्त ज्ञान, अधिगम, कला, मान्यताएँ, नीति आदि का क्षेत्र, स्थान, भौगोलिक आदि के साथ जुड़ी रही है। इसके साथ ही स्वच्छता भी संस्कृति से स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित होती है। स्वच्छता समाज के विभिन्न सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित होती है। धार्मिकता की स्वच्छता, आर्थिक स्वच्छता, शारीरिक स्वच्छता, शौचालय की स्वच्छता, पर्यावरण की स्वच्छता, मन की स्वच्छता, कार्यों में स्वच्छता, नाली–खडनजा की साफ–सफाई आदि की स्वच्छता से सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों एवं संस्कृतियों से है।

स्वच्छता का सम्बन्ध कला से– स्वच्छता का कला से प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से प्रभावित करती है। कोई समाज में ऐसी कला नहीं है, जो स्वच्छता से प्रभावित न हो। जैसे– चित्र कला, नृत्य कला, धर्म कला, मिट्टी कला आदि किसी न किसी रूप में स्वच्छता से सम्बन्धित व प्रभावित होती है। जैसे– चर्म कला से अन्तर्गत किस प्रकार से मृतक पशुओं के चमड़े की सफाई की जाती है। चर्म को सफाई करने में पानी की अधिक खपत, बदबू व गंदगी का प्रभाव बना रहता है। फलतः पर्यावरण प्रदूषण की समस्या उत्पन्न होता है। जैसे– उत्तर प्रदेश, कानपुर शहर में चर्म उद्योग से निकलने वाला जल गंगा नदियों में बहाया जाता है। इससे लोगों पर स्वास्थ्य पर प्रत्यक्ष बना रहता है। हालांकि कला का अवश्य विकास हुआ लेकिन इसके साथ ही पर्यावरण व स्वच्छता का प्रश्न उत्पन्न हुए। चर्म कला के साथ स्वच्छता का सम्बन्ध है समाज में इस प्रकार के कला से विशेष आस्था, लगाव व आदरभाव जुड़ा हेाता है। इसलिए स्वच्छता का होना अनिवार्य है। कला से निम्न वर्ग व मेहनतकश लोगों के प्रति भेदभाव का सामना करना पड़ता है।

स्वच्छता जन–जीवन से सम्बन्धित है– भारत एक विविधताओं का देश है, जिनमें अनेक जाति, धर्म, प्रजाति, आचार–विचार, मूल्य, प्रथा आदि जिनमें भेदभाव की नीति अपनायी जाती है। सामाजिक भेद–भाव का स्वच्छता के साथ प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सम्बन्ध है। सभी धर्मों में ईश्वर की भक्ति का

संदेश होता है। इनके प्रति लोगों के मन में स्वच्छता का भाव निहित होता है और धर्मों के विचारों का प्रभाव जन–मानस पर पड़ता है। नगरीय समुदास की अपनी–अपनी संस्कृति व प्रणाली है। जो अन्य समुदाय से भिन्न है। लोग स्वच्छता के प्रति आग्रह होने पर सार्वजकि स्वच्छता के प्रति लापरवाह है और ग्रामीण समुदाय अशिक्षित होने के कारण स्वच्छता के प्रति जागरूक नहीं है। आदिवासी लोग प्राकृतिक पर्यावरण पर निर्भर होने के कारण स्वच्छता के प्रति जागरूक नहीं है।

अतः भारत में स्वच्छता की स्थिति असंतुलित है। भारत में भौगोलिक स्थिति भी विशिष्ट है। जैसे– पर्वतीय क्षेत्र, वन, दलदल, समुद्र तट, मैदान, शीत–प्रदेश, समतल मैदान आदि विविधताएँ है। जहाँ समतल मैदान है, वहाँ कृषि व उद्योग के प्रति जागरूक है तथा तुलनायुक्त पर्वतीय क्षेत्रों में पशुपालन अधिक होता है और वहाँ प्राकृतिक हवा, जल प्राप्त होते है। परन्तु ऐसे क्षेत्रों में वृक्षों की कटाई होने से पर्यावरण को खतरा होती है। भारत में निवास करने वाले लोगों का जीवन विविधता पूर्ण रीति–रिवाज, जीवनशैली, कला, कारीगरी, प्राचीन हस्व–प्रतः चित्र, धार्मिक, संस्कृति, साहित्य, संगीत, भजन आदि के द्वारा चलता रहता है। इन सभी क्षेत्रों में स्वच्छता के संदेश फैलाये जाते हैं। यहाँ विविध व्यवसाय प्रचलित है। जैसे– दर्जी का कार्य, सफाई का कार्य, मजदूरी का कार्य आदि क्षेत्रों में स्वच्छता का विशेष महत्व है। अतः भारत में जन–जीवन की स्थिति को स्वच्छता से सम्बद्ध माना जाता है।

स्वच्छता और धार्मिक उत्सव– भारत में धार्मिक उत्सव का अपना एक विशेष महत्व है। धार्मिक उत्सव के अन्तर्गत धर्म, उपधर्म आदि अनेक प्रकार के विधि–विधान द्वारा पूर्ण किया जाता है और वर्ष के दौरान कई प्रकार के त्यौहार–उत्सवों को मनाया जाता है। जैसे– पूजा–पाठ, रथयात्रा मेले आदि अनेकों प्रकार का आयोजन समयांतराल के दौरान सम्पन्न किये जाता है। ऐसी स्थिति, ऐसे स्थानों पर स्वच्छता से सम्बन्धित अनेकों प्रकार की समस्याएँ व सुविधाएँ उत्पन्न होती है। जैसे– गंदगी अस्वच्छता, मल–मूत्र का प्रदूषण, दूषित जल, निवास आदि की समस्याएँ बनी रहती है। कुंभ मेला इसका एक सशक्त उदाहरण है। कुंभ मेले के दौरान वहाँ लाखो लोगों की वजह से वहाँ पर अस्वच्छता का प्रभाव मेलों के समाप्ति के बाद बहुत लम्बे समय तक बना रहता है। ईश्वर के प्रति श्रद्धा भाव रखने के बाद भी लोग स्वच्छता के प्रति लापरवाह बने रहते है।

धार्मिक व सार्वजनिक स्थानों पर स्नान–ध्यान को पुण्य कार्य मानने के बावजूद लोगों के मन स्वच्छता के प्रति संकल्प पैदा नहीं होता है और गंदगी फैलाते है। जुलूसों के दौरान लोग स्वच्छता सम्बन्धी कार्यों में भी लापरवाह बने रहते है। भारत में साल भर नित–प्रति लोक उत्सव के रूप में आयोजन होते रहते है। जिससे एक स्थानों पर लोगों का भीड़ एकत्रित होने की वजह से वहाँ पर गंदगी एकत्रित होती रहती है, जिससे स्वच्छता के प्रति कई प्रश्न उठते हैं।

स्वच्छता और सामाजिक परिवर्तन– समाज के सामाजिक परिवर्तन में स्वच्छता एक महत्वपूर्ण माध्यम है, क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत परिवर्तन होता है। स्वच्छता समाज का प्रत्येक व्यक्ति ग्रहण करता है। अगर कोई भी व्यक्ति स्वच्छता को अपनाता नहीं है तो फिर पुनः विचार करने के पश्चात् स्वच्छता को अपनाता नहीं है और समाज में विभिन्न प्रकार के सामाजिक परिवर्तन होता है।

स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन, व्यवसाय में परिवर्तन, विवाह के विचारों में परिवर्तन, शौचालय के सामाजिक प्रतिष्ठा में परिवर्तन, विचारधार में परिवर्तन, नये कानूनों में परिवर्तन आदि महिलाएँ भी शौचालय का प्रयोग करने में पीछे रही हैं। उसी प्रकार से विविध जन–समूह शौच के लिए बाहर खुले स्थानों में शौच क्रिया करते थे। महिलाएँ भी शौच के लिए खुले स्थान पर शौच क्रिया करती थी। महिलाएँ विविध प्रकार के कार्य जैसे– साफ–सफाई करना, कपड़ा धोना, खाना बनाना, बच्चों का पालान–पोषण करना आदि में संलग्न होने की वजह से उनकी निम्न स्थिति थी। समयान्तर के पश्चात् उनके स्थिति में बदलाव आया। महिलाएँ अपने हक एवं अधिकार के लिए उनमें जागृति आयी है। शौचालय को लेकर महिलाएँ अति आम्ररह रही है और इस प्रश्न को लेकर समाज में शौचालय को स्वीकार करना पड़ा और महिलाएँ के स्थिति में परिवर्तन हुयी। स्वच्छता व शौचालय को अपनाने से

विभिन्न प्रकार के व्यवसाय के नये–नये अवसर पैदा हुए और व्यावसायिक कार्यों में व्यक्तियों के बीच भेद–भाव समाप्ति हुयी है।

दलित और पिछड़ी जातियों के लोगों को शौचालय व स्वच्छता सम्बन्धी कार्य अनवरत करने पड़ते थे। आधुनिक समय में शौचालय के विकास से उन लोगों को व्यवसाय चयन करने का मौका मिला। निम्न व दलित जातियों के व्यवसाय में परिवर्तन आया है और इन जातियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आया।

स्वच्छता व शौचालय को अपनाने से लोगों की स्थिति व प्रतिष्ठा में वृद्धि हुयी है। आज घर में शौचालय का होना प्रतिष्ठा का कारक माना जा रहा है। गाँव के जिस घर में शौचालय है। जनता तथा अतिथिगण वर्ग शौच क्रिया में संकोच अनुभव नहीं करते है। गाँव में जाति–भेदभाव, अस्पृश्यता, आदिवादिता, संदेह, अध्य मान्यताएँ आदि लोगों की मन–मानसिकता में धर गयी है। स्वच्छता व शौचालय सम्बन्धी कार्यों में संलग्न सफाईकर्मियों को अनेक प्रकार के अन्याय, भेदभाव, शोषण का शिकार बनना पड़ता था। उन्हें सार्वजनिक स्थानों का प्रयोग करना वर्जित था। लेकिन आज शौचालय व स्वच्छता सम्बन्धी विषयों में परिवर्तन हेाने से सफाईकर्मियों को पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त हुयी है। शौचालय व स्वच्छता से रूढ़िगत विचारों में परिवर्तन हुए है और घरों में लोग स्वच्छता व शौचालय को अपना रहे है तथा सार्वजनिक शौचालय के उपयोग में वृद्धि हुई है। स्वच्छता व शौचालय खर्चीली होने पर भी लोग उसे अपना प्रतिष्ठा का माध्यम मान रहे हैं।

वर्तमान स्वास्थ्य और स्वच्छता की उपादेयता – सफाई से रहने की आदत से जहाँ शरीर स्वस्थ रहता है वहीं स्वच्छता तन और मन दोनों की खुशी के लिये आवश्यक है। स्वच्छता को सभी लोगों को अपनी दिनचर्या में अवश्य ही शामिल करना चाहिए। **महात्मा गांधी जी** ने कहा था कि स्वच्छता ही सेवा है हमारे देश के लिये और हमारे जीवन के लिये स्वच्छता की बहुत जरूरत है। गंदगी हमारे आस–पास के वातावरण और जीवन को प्रभावित करती है। हमें व्यक्तिगत आस–पास की सफाई अवश्य रखनी चाहिए और दूसरों को भी इसके लिए प्रेरित करना चाहिए। महात्मा गांधी का विचार है कि राजनीतिक स्वतंत्रता से ज्यादा जरूरी स्वच्छता है। यदि कोई व्यक्ति स्वच्छ नहीं है तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता है। बेहतर साफ–सफाई से ही भारत के गांवों को आदर्श बनाया जा सकता है। शौचालय को अपने ड्राइंग रूम की तरह साफ रखना चाहिए। अपने अन्दर की स्वच्छता पहली चीज है। जिसे सब कुछ छोड़कर स्वच्छता पहली चीज है, पढ़ाया जाना चाहिए।

अपनी गलती को स्वीकारना, झाड़ू लगाने के समान है, जो सतह को साफ और चमकदार कर देता है। हर किसीएक को अपना कूड़ा खुद साफ करना चाहिए। मैं किसी को गंदे पैर के साथ अपने मन से नहीं गुजरने दूंगा। स्वच्छता को अपने व्यवहार में इस प्रकार अपना लो कि आदत बन जाय। स्वच्छता हमारे दैनिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। स्वच्छता का विचार धा से शुरू होता है। स्वच्छता बनाये रखना स्वास्थ्य जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। अगर आप अपने घर और वातावरण को साफ–सुथरा नहीं रखते तो आप कीटाणुओं जैसे– हैजा, पीलिया, कैंसर, चर्म रोग, दमा आदि रोग पैदा कर सकते हैं। स्वच्छता के बल अपने घर तक ही नही बल्कि एक ास्वस्थ पारिस्थितिक तंत्र को बनाये रखने के लिये हमें अपने परिवेश को भी साफ रखना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. स्वच्छता के चरण– IHHLhi.vikasldia.in/Healthnew.vh.org/ne/story (जलवायु और पर्यावरण)
2. डॉ0 अनिल बघेला विभाग, प्रमुख समाजशास्त्र एम0 के0 भावनगर विश्वविद्यालय।
3. hihindi.com/cleanleness (google.com/amp/s.m) वर्तमान स्वास्थ्य एवं स्वच्छता
4. स्वच्छता सभी का कार्य स्त्रोत (swachhabharatmission.gov.in) पेय जलापूर्ति तथा स्वच्छता योजनाएँ (पंचायतनामा डेस्क)

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

डॉ. भगवान दास का सर्व धर्म समन्वय पर विचारः एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

डॉ. योगेन्द्र प्रसाद यादव
पूर्व शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
ईमेल *ypyvns@gmail.com*

सारांश :–
डॉ. भगवान दास उन भारतीय विचारकों एवं समाजशास्त्रीयों व दार्शनिकों में से है, जिन्होने भारतीय प्राचीन धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के आधार पर वर्तमान भारतीय समाज में अपना एक बहुमूल्य योगदान दिया है। भगवान दास के विचार टैगोर, महात्मा गांधी, अरविन्दो, एनी बेसेन्ट आदि से कम नहीं है। दास ने सर्व धर्म समन्वय की अवधारणा को प्रस्तुत करके एक ऐसे समाज की संकल्पना किया जिसमें विश्व के सभी धर्म समाहित हो, भगवान दास का विचार था कि विभिन्न धर्मो की विशेषताओं को स्पष्ट करके एक ऐसे समन्वय की खोज करना था, जिसकी सहायता से दुनिया के सभी धर्मो विशेष रुप से भारत में अनेक धर्मो को मानने वाले समुदायों के बीच एकता को स्थापित किया जा सके।

मुख्य शब्द :– धर्म, समानता, संस्कृति, विज्ञान, शक्ति, मानवता, अमरत्व, सभ्यता, मूल्य, दृष्टिकोण आदि।

डा. भगवान दास ने स्पष्ट किया कि पश्चिमी संस्कृति तथा भारत के अनेक समुदायों के बीच एकता तभी स्थापित हो सकता है, जब हम उन सामान्य समस्याओं को जानने का प्रयास करे जो धर्म के आधार पर लोगों को एक दूसरे से अलग बाटती है। भगवान दास धर्म एवं विज्ञान के विरोधी नही थे बल्कि दास का विचार था धर्म एवं विज्ञान एक दूसरे से अलग नही है। बल्कि एक दूसरे के सहयोगी एवं पूरक है। धर्म व विज्ञान दोनों का अन्तिम उद्देश्य सभी जीव–जन्तु, पशु–पक्षी, कीट–पतंग आदि का कल्याण करना होता है। डॉ. भगवान दास का मानना था कि धर्म लोगों के जीवन में खुशी ला सके ऐसे धर्मों का विकास समाज में होना चाहिए। जबकि विज्ञान के माध्यम से हमें अपने जीवन को तार्किकता के आधार पर आगे बढ़ना चाहिए। लोविस डिक्सन ने अपने निबन्ध **एन ऐसे ऑन इण्डिया तथा चाइना एण्ड जापान** में लिखा कि भारत में धर्म अमरत्व से जुड़ा है, जबकि यूरोप में धर्म सभ्यता से जुड़ा है। अर्थात डिक्सन इस कथन को स्पष्ट करना चाहते थे कि अमरत्व एवं सभ्यता दो अलग अलग शब्द होते हुए भी एक ही उद्देश्य को प्राप्त करती है। वास्तव में देखा जाये तो दुनिया के समस्त धर्मो का अन्तिम लक्ष्य मानव कल्याण का विकास करना है। दास का भारतीय धर्म अथवा हिन्दु धर्म को दुनिया में श्रेष्ठता को प्रमाणित करना नही रहा। बल्कि उनका विचार था कि हिन्दु धर्म एक मानवतावादी धर्म है और इससे सम्बन्धित आचरण, विश्वास, कर्मकाण्ड आदि के तरीके अन्य दूसरे धर्मो को विरोधी नही है। डॉ. दास हिन्दु धर्म के अलावा दुनिया के अन्य धर्म जैसे इस्लाम, बौद्ध, जैन, पारसी आदि के उत्थान के लिए भी एक लम्बा कार्य किया था। उनका मानना था कि दुनिया के सभी धर्मो का उद्देश्य भी मानवता का विकास करना ही रहा है। डॉ. दास की प्रमुख कृतियॉ एवं लेख निम्नांकित प्रकार से है–

1. द साइन्स ऑफ इमोशन्स (सन् 1900)
2. द साइन्स ऑफ पीस (सन् 1904)
3. भगवत गीता का अनुवाद (सन् 1905)
4. द साइन्स ऑफ सोशल आर्गनाइजेशन (सन् 1910)
5. द साइन्स ऑफ रिलीजन (सन् 1917)
6. सोशल रिकंस्ट्रक्शन विद स्पेशल रिफरेंस टू इंण्डियन प्राब्लेम्स (सन् 1920)
7. आउट लाइन स्कीम ऑफ स्वराज (सन् 1923)

8. इंडियन आइडियल्स ऑफ वीमेन्स एजुकेशन (सन् 1929)
9. द एसेन्शियल यूनिटी ऑफ आल रिलीजन्स (सन् 1932)
10. प्राचीन बनाम आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद (सन् 1934)
11. विविधार्थ (सन् 1952)
13. भगवत गीता का आशय और उद्देश्य (सन् 1954)

डॉ. दास ने अपनी पुस्तक *The Essential unit of all Religions* में लिखा है समाज में जैसे–जैसे धर्म एवं विज्ञान के बीच मतभेद दूर होते रहेंगे वैसे–वैसे वैज्ञानिक दृष्टिकोणों का प्रभाव समाज में बढ़ेगा। धर्म के बीच पाये जाने वाले विभिन्न कार्यो ने ही दुनिया को अलग अलग पंथ, समुदाय, सम्प्रदाय में विभाजित कर रखा है, जिस दिन यह मतभेद खत्म हो जायेंगे उस दिन संसार में तार्किकता का विकास होगा। डॉ. दास का कहना था कि आध्यात्मिकता एक ऐसा तत्व है, जो दुनिया में पाये जाने वाले सभी धर्मो की मूल आत्मा है। दुनिया में धर्म को अनेक विद्वानों ने अपने अपने विचारों में परिभाषित किया है, जो निम्नांकित है–

एडवर्ड टायलर के शब्दों में – अपनी पुस्तक *Primitiv culture* '1924' में लिखा कि ''धर्म आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है।''

जेम्स फ्रेजर के अनुसार– फ्रेजर ने अपनी पुस्तक द गोल्डेन बर्थ *The Golden Bough* '1945' में लिखा है कि ''धर्म से मेरा आशय मनुष्य से श्रेष्ठ शक्तियों को संतुष्ट या पूजा आराधना करना है, जिनके बारे में यह ज्ञात हो कि यह शक्तियाँ प्रकृति एवं मानव जीवन को नियंत्रित करती है।''

ईमाइल दुर्खीम के शब्दों में– दुर्खीम ने *The elementry form of Religions life* '1912' में लिखा कि ''धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विभिन्न विश्वासों एवं व्यवहारों की व्यवस्था है, जो अपने समाज के लोगों को एक नैतिक समुदाय से जोड़ती है।''

डॉ भगवान दास के अनुसार– ''धर्म एक ऐसा विश्वास है, जिसे हम प्रेम करते है और उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहते है।''

उपयुक्त परिभाषाओं का अवलोकन किया जाये तो स्पष्ट होता है कि धर्म एक ऐसी शक्ति है जो अपने समाज से जुड़े लोगों के व्यवहार, विचार, कर्मकाण्ड, जीवन शैली आदि को प्रभावित करती है। समाज में पाप–पुण्य का भय या डर दिखाकर धर्म व्यक्ति को गलत कार्य करने से रोकती है। जिससे सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है। डॉ. दास ने धर्म को एक ऐसे विश्वास के शक्ति के रुप में देखा जो मानव जीवन के कठिन दौर तथा निराशा के समय सहारा प्रदान करती है। तथा सत्य, सौन्दर्य एवं अमरत्व आदि वे विचार है जिनसे हम प्रेम करते है। इस दृष्टिकोण से देखा जाये तो डॉ. दास का धर्म सम्बन्धित विचार आध्यात्मिक होने के साथ ही बौद्धिक ज्ञान से सम्बद्ध है।

डॉ. दास ने वैदिक धर्म को ज्ञान, शक्ति एवं कर्म का समावेश बतालाया है। वैदिक धर्म मानव जीवन के लिए आवश्यक है। वास्तविकता को देखा जाये तो वैदिक धर्म 'आत्म' के विकास का विज्ञान है। वैदिक धर्म की मुख्य विशेषता यह है कि यह हमें दूसरों से प्रेम करना, सत्य का आचरण करना और दूसरे लोगों की सहायता करना सिखलाती है। इस धर्म में अमरत्व, ज्ञान, विज्ञान एवं दर्शन का आधार पाया जाता है। जिससे स्पष्ट होता है कि धर्म स्वयं में विज्ञान है। जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण मानवता को एक दूसरे से जोड़ना है। इसी कारण डॉ. दास ने सर्व धर्म एकता तो *Unity of all Religions* के नाम से सम्बोधित किया। आपने मानवता का मार्गदर्शन करने का प्रयास किया आपने कहा कि जीवन, प्रकाश और शक्ति सभी धर्मो में समान है तथा सभी धर्मो का विकास इन्ही तीनों से हुआ है। दुनिया में ऐसे व्यक्तियों कमी नही है, जो यह समझते है कि हमारा धर्म या पूजा पद्धति एवं विश्वास तथा मान्यताएं ही सर्वश्रेष्ठ है। हम अपने धर्म को ही वास्तविक धर्म समझने है तथा अपने धर्म, सम्प्रदाय, जाति और प्रजाति को ही अच्छा मानते है। लोगों का मानना है कि उनकी

जाति व प्रजाति को ईश्वर से प्रदत्त विशेषाधिकार प्राप्त है। तथा ईश्वर ने इस जाति को अन्य लोगों पर राज करने के लिए ही बनाय है। भगवान दास ने अपनी पुस्तक *The Science of Social Organization* में कहा है कि एक अच्छा धर्म वह जो किसी वस्तु या विचार को धारण करने योग्य बनाता है तथा उससे व्यक्ति को कभी अलग नही होने देता है। उस विचार को किसी भी व्यक्ति या धर्म पर बलपूर्वक थोपने का प्रयास नही करता है। सर्व धर्म समन्वय संबन्धित विचारों को विभिन्न धर्मो की एकता के आधार पर स्पष्ट किया जो निम्नांकित है।

1. एक सत्य– डॉ. दास का मानना था कि दुनिया के सभी धर्म इस सत्य पर आधारित होते है कि हमारी इन्द्रिया एक अलौकिक शक्ति के अधीन होकर कार्य करती है। अर्थात यह भौतिक जगत किसी अलौकिक शक्ति के अधीन है, इस सत्य को यदि पहचान लिया जाये तो विभिन्न धर्मो के बीच पाये जाने वाले अन्तर को हम सरलता से दूर कर सकते है।

2. आध्यात्मिक संस्तरण– दास ने दुनिया में पाये जाने वाले सभी धर्मो के आध्यात्मिकता के संस्तरण पर विशेष जो दिया। उन्होंने वैदिक धर्म को सबसे श्रेष्ठ माना है। इसके बाद क्रमशः विभूतियों, मनु तथा ऋषि व मुनियों को स्थान दिया। उनका मानना था कि ऐसे कार्यो को हमें प्रोत्साहन देना चाहिए, जिससे मानवीय मूल्यों का विकास अधिक हो सके। डॉ. दास के अनुसार विभिन्न धर्मो का आध्यात्मिक संस्तरण एक दूसरे धर्मो को अलग नही करता बल्कि समस्त धर्मो को एक समान दृष्टिकोण से देखता है।

3. विश्वासों में समानता– डॉ. भगवान दास का मानना था कि विश्वासों की समानता समस्त धर्मो में एक समान पायी जाती है। इसी विश्वास के आधार पर व्यक्ति अपने आचरणों का प्रयोग करते है। विश्वास के कारण व्यक्ति अलौकिक शक्ति का पूजा–आराधना करते है। यह विश्वास ही व्यक्ति को मानवीय मूल्यों की ओर ले जाती है। सभी धर्म व्यक्ति को अच्छे आचरण व कर्मो के प्रति प्रोत्साहित करते है।

4. जीवन मूल्यों की एकता– दुनिया के सभी धर्म आत्मिक एवं नैतिक विकास के लिए जिन मूल्यों तथा आचरणों को आवश्यक मानते है, उनमें एक विश्वसनीयता देखने को हमें मिलती है। दुनिया में कोई भी धर्म ग्रन्थ ऐसा देखने को नही मिलेगा, हमें जिसमें अपने भक्तों की शिक्षा माता–पिता तथा वृद्धजनों का आदर–सम्मान करने का आदेश न देता हो। दुनिया के सभी धर्म जीवन मूल्यों की एकता पर समान रुप से बल देते है, क्योंकि यह मूल्य ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारण करने है। मूल्यों के अनुसार ही किसी समाज की संरचना व्यवस्था को हम समझने का प्रयास करते है।

5. पाप–पुण्य की समानता– डॉ. दास के अनुसार सभी धर्मो में पाप–पुण्य की एक समान दृष्टिकोण देखने को मिलती है। डॉ. दास ने संसार में पाये जाने वाले समस्त धर्मो के समन्वय पर समान रुप से बल दिया। सभी धर्मो में मानव द्वारा किए जाने वाले समस्त कार्यो को ईश्वरीय देन माना जाता है। इसके पीछे यह तर्क दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर ईश्वर या शैतान, स्मृति या कुमति का एक साथ निवास होता है। जब व्यक्ति के अन्दर ईश्वरीय शक्ति का प्रभाव बढ़ता है तो व्यक्ति पुण्य कर्मो को करता है। लेकिन जब मनुष्य में शैतान या कुमति का प्रभाव पड़ता है, तो वह विभिन्न प्रकार के पापों को करने लगता है। काम्ट ने भी धार्मिक स्तर में यह माना है कि इस दुनिया में समस्त घटनाएं किसी न किसी अलौकिक शक्ति का देन है।

6. जीवन का अन्तिम लक्ष्य– डॉ. दास ने इस बात को माना है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म का हो लेकिन उसके जीवन का अन्तिम लक्ष्य उसी शक्ति में समाहित हो जाना है। जिसे विभिन्न धर्म बौद्ध, जैन में मुक्ति व निर्वाण कहा गया है। इस्लाम धर्म में इसे निजात अथवा फुनाफइल्लाह कहा जाता है। ईसाई धर्म में लिखा गया कि ''उस आलौलिक शक्ति ने आज मुझे जन्म एवं मृत्यु के बन्धन से मुक्त कर दिया।'' डॉ. दास के अनुसार जब हम मुक्ति की बात करते है, तो हम अपने जीवन में कही न कही मृत्यु एवं पुर्नजन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते है।

7. वैज्ञानिकता का समावेश– डॉ. दास ने लिखा है कि वर्तमान समय में धर्म की प्रकृति वैज्ञानिक बनती जा रही है, तो दूसरी तरफ विज्ञान ने धर्म का स्वरुप ले लिया है। दोनों विज्ञानों ने मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक विकास पर विशेष बल दिया है। डॉ. दास का मानना थ कि एक अच्छा डॉक्टर वही बनता है जो आत्मा का परिष्कार करने वाले वैज्ञानिक होते है। सभी धर्मो में दान व सार्वजनिक स्थलों जैसे–स्कूल, अस्पताल, धर्मशाला आदि का एक विशेष महत्व पाया जाता है। जिसका प्रयोग दुनिया के समस्त धर्मो के लोग एक साथ करते है। यही सबसे बड़ी धर्म निरपेक्षता है।

8. सामाजिकता का आधार– सभी धर्मो एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह अपने नियमों के द्वारा सामाजिक जीवन को संगठित बनाने का प्रयास करता है। प्रत्येक धर्म में व्यवहार से सम्बन्धित कुछ विशेष नियमों का समावेश पाया जाता है। जिनके द्वारा पारिवरिक जीवन, सामाजिक जीवन और सम्पत्ति संबंधी अधिकारों को एक सही दिशा प्रदान करता है। यह नैतिक मूल्यों, व्यवहारों एवं त्यागपूर्ण विचारों पर आधारित होते है।

निष्कर्ष के रुप में यह कहा जा सकता है कि डॉ. दास का विचार सभी धर्मो के प्रति एक समान था। वह किसी भी धर्म को श्रेष्ठ या निम्न नहीं मानते थे। यही कारण था कि डा. दास ने सर्व धर्म समन्वय का सिद्धान्त दिया है और लिखा कि सभी धर्म मानवीय उत्थान एव शक्ति का पैगाम देते है। इसमें किसी भी प्रकार की कोई विभिन्नता देखने को नहीं मिलती है। डॉ. भगवान दास ने कहा कि वर्तमान समय में वैदिक धर्म को मानव धर्म के रुप में विकसित करके मानवता को विभिन्न संघर्षो व तनावों से निजात दिलाया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. अग्रवाल, जी.के. (2008) भारतीय सामाजिक विचारक, प्रकाशकः साहित्य भवन पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि. आगरा पृ0सं0 166.167
2. सिंह, जे.पी. (2008) आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, प्रकाशकः नई दिल्ली, पृ0सं0 39
3. अग्रवाल, जी.के. (2016) समाजशास्त्र परिचय, प्रकाशकः आगरा पृ0सं0 154
4. पूर्वात्त[1] पृ0सं0 167–171
5. दोषी, एस.एल.(2020)भारतीय सामाजिक विचारक, प्रकाशनः रावत पब्लिकेशन्स, आगरा पृ0सं0 16

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

डिजिटलीकरण व सतत विकास लक्ष्य : स्वास्थ्य देखभाल व सामाजिक पहल की ओर एक कदम

आँचल गुप्ता,
शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
डॉ. राहुल गुप्ता,
सह–आचार्य, समाजशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश–

महासभा की ७० वीं बैठक में सतत विकास के लिए सितंबर 2015 में एजेंडा 2030 को अपनाया गया जिसमें 17 सतत विकास लक्ष्य (एसडीजी) और 169 प्रयोजन शामिल है। 'किसी को भी पीछे ना छोड़े' के सिद्धांत पर आधारित यह नया एजेंडा सभी के लिए सतत विकास प्राप्त करने के लिए समग्र दृ ष्टिकोण पर जोर देता है। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से डिजिटलीकरण और सतत विकास लक्ष्य तृतीयः स्वास्थ्य, के बीच संबंधों को स्पष्ट करने और साथ ही डिजिटल तकनीक के अत्यधिक उपयोग के कारण बढ़ते डिजिटल असमानता अर्थात डिजिटल गैप विशेष रूप से अंतरपीढ़ी असमानता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आज के गतिशील और बदलती दुनिया में प्रतिस्पर्धात्मक और आर्थिक विकास हेतु जीवन के सभी क्षेत्रों का डिजिटलीकरण अब सतत विकास के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता बनता जा रहा है। किसी भी देश की गुणवत्ता और प्रगति को वहां के सामाजिक और आर्थिक जीवन के डिजिटलीकरण के माध्यम से सुनिश्चित किया जा सकता है। सतत विकास लक्ष्य में विशेष रूप से सतत विकास लक्ष्य तृतीयः अर्थात स्वास्थ्य, एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है जिसको डिजिटलीकरण से जोड़कर समाज के दूरस्थ क्षेत्रों और वंचित समुदायों तक स्वास्थ्य देखभाल के समान पहुंच को सुनिश्चित कर सकने में मदद मिलेगी। कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल उपकरण और मोबाइल एप्स के माध्यम से इलेक्ट्रॉनिक डाटा उपलब्ध कराने, स्वास्थ्य सेवाओं को सरल बनाने जिसमें मेडिकल रिकॉर्ड रखने, ऑनलाइन अपॉइंटमेंट बुक करने, दवा का प्रशासन ,कृत्रिम अंगों का डिजाइन, रोबोटिक सर्जरी, बीमारी का शीघ्र पता लगाने और इलाज करने जैसे कार्यों को आसानी से व्यवस्थित किया जा सकता है ।

परंतु पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी की तुलना में डिजिटल तकनीक के उपयोग में ज्यादा सक्षम होती हैं जहां एक ओर नई पीढ़ी डिजिटल रूप से साक्षर होने के कारण आसानी से स्वास्थ्य सुविधाओं का लाभ उठा पाती हैं वहीं दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी स्वास्थ्य सुविधाओं का लाभ लेने में खुद को असमर्थ महसूस करती हैं। जिसके कारण दोनों पीढ़ियों के बीच डिजिटल तकनीकी उपयोग को लेकर एक बड़ी दूरी अर्थात डिजिटल गैप का जन्म होता है। डिजिटल क्रांति दुनिया भर में स्वास्थ्य प्रणालियों का चेहरा बदल रही है। 71 वी विश्व स्वास्थ्य सभा (डब्ल्यू.एच.ए.), विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू.एच.ओ.) ने भी स्वास्थ्य सेवा क्षमताओं को बढ़ाने और स्वास्थ्य संबंधी सतत विकास लक्ष्य विशेष रूप से सतत विकास लक्ष्य तृतीय को प्राप्त करने के दिशा में डिजिटल क्रांति की पूरी क्षमता को पहचाना। डिजिटल स्वास्थ्य उपकरणो के अनुप्रयोग के माध्यम से सकारात्मक प्रभाव की संभावना स्पष्ट है। इस शोध पत्र हेतु आंकड़ों का संकलन द्वितीयक स्रोतों से उपलब्ध प्रासंगिक संकेतों ,अधिकारिक दस्तावेजों, प्रतिवेदनों और पूर्व में किए गए अध्ययनों को शामिल किया गया है।

बीज शब्द – सतत् विकास लक्ष्य, डिजिटलीकरण, डिजिटल गैप, अंतरपीढ़ी असामानता।

प्रस्तावना–

'सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्य' के अवधि के समाप्ति के पश्चात पर्यावरण सुरक्षा के साथ मानव विकास हेतु महासभा की 70 वीं बैठक में सतत विकास के लिए सितंबर 2015 में एजेंडा 2030 को अपनाया गया। जिसमें 17 सतत विकास लक्ष्य (एसडीजी) और 169 प्रयोजन शामिल है। 'किसी को भी पीछे ना छोड़े' के सिद्धांत पर आधारित यह नया एजेंडा सभी के लिए सतत विकास प्राप्त करने के लिए समग्र दृ ष्टिकोण पर जोर देता है। पर्यावरण तथा विकास पर विश्व आयोग (1983) के अंतर्गत ब्रंटलैंड कमीशन द्वारा जारी रिपोर्ट (1987) के अनुसार, ''आने वाली पीढ़ी की अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु विकास ही सतत विकास है।'' स्वास्थ्य और खुशहाली किसी भी व्यक्ति के जीवन के शुरुआत से लेकर हर चरण में महत्वपूर्ण है जिसमें सतत विकास लक्ष्य तृतीय का उद्देश्य सभी उम्र के लोगों के लिए स्वस्थ जीवन सुनिश्चित करना और कल्याण को बढ़ावा देना है। सतत विकास लक्ष्य तृतीय में कुल मिलाकर 42 स्वास्थ्य आधारित संकेतको को शामिल किया गया है। जिसमें से 13 स्वास्थ्य लक्ष्यों के 31 व्यक्तिगत संकेतक और 6 अन्य स्वास्थ्य संबंधी लक्ष्यों में से 11 संकेतक शामिल है। यह लक्ष्य सभी प्रमुख स्वास्थ्य प्राथमिकताओं को संबोधित करता है जिसमें माता व नवजात शिशु स्वास्थ्य, बाल और किशोर स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, यौन और प्रजनन स्वास्थ्य देखभाल सेवाएं और सभी के लिए सुरक्षित ,प्रभावी गुणवत्तापूर्ण और सस्ती दवाओं एवं टीको की सार्वभौमिक पहुंच शामिल है। इस लक्ष्य के अंतर्गत उपेक्षित और अत्यधिक बीमारी ग्रस्त क्षेत्रों को प्राथमिकता दी गई है।

स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिरता प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं के कार्यान्वयन पर निर्भर करती है। सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी स्वास्थ्य देखभाल सेवा को क्रमबद्ध करने के लिए डिजिटल प्रणाली लागू करने की बात कही। देश में डिजिटलाइजेशन की प्रक्रिया धीरे–धीरे विकसित हो रही है इस क्रम में जीवन के हर क्षेत्र का डिजिटलीकरण सतत विकास लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में एक प्रभावीकारी और महत्वपूर्ण कदम साबित हो रहा है। 20 वीं सदी के अंत में कंप्यूटर और इंटरनेट के युग में डिजिटलीकरण शब्द प्रचलन में आया यह सूचना के कई अलग–अलग रूपों – जिनमें पाठ, चित्र, ऑडियो और वीडियो शामिल हैं को डिजिटल प्रारूप में परिवर्तित करने की एक प्रक्रिया है। किसी भी देश की गुणवत्ता और प्रगति को वहां के सामाजिक और आर्थिक जीवन के डिजिटलीकरण के माध्यम से सुनिश्चित किया जा सकता है। सतत विकास लक्ष्य में विशेष रूप से एस. डी.जी. 3 अर्थात स्वास्थ्य, एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है जिसको डिजिटलीकरण से जोड़कर समाज के दूरस्थ क्षेत्रों और वंचित समुदायों तक स्वास्थ्य देखभाल के समान पहुंच को सुनिश्चित कर सकने में मदद मिलेगी। कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल उपकरण और मोबाइल एप्स के माध्यम से इलेक्ट्रॉनिक डाटा उपलब्ध कराने, स्वास्थ्य सेवाओं को सरल बनाने जिसमें मेडिकल रिकॉर्ड रखने, ऑनलाइन अपॉइंटमेंट बुक करने, बीमारी का शीघ्र पता लगाने और इलाज करने जैसे कार्यों को आसानी से व्यवस्थित किया जा सकता है ।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य डिजिटलीकरण और सतत विकास लक्ष्य तृतीयः स्वास्थ्य, के बीच संबंधों को स्पष्ट करना है साथ ही डिजिटल तकनीक के अत्यधिक उपयोग के कारण बढ़ते डिजिटल असमानता अर्थात डिजिटल गैप विशेष रूप से अंतरपीढ़ी असमानता का अध्ययन करना है। इस शोध पत्र में आंकड़ों के संकलन हेतु द्वितीयक स्रोतों से उपलब्ध प्रासंगिक संकेतों, आधिकारिक दस्तावेजों, प्रतिवेदनो और पूर्व में किए गए अध्ययनों को शामिल किया गया है।

वर्तमान में अधिकांश देशों ने स्वास्थ्य की गुणवत्ता ,सुरक्षा और दक्षता में सुधार करने हेतु डिजिटल तकनीक को अपना रही है कॉविड–19 महामारी ने भी नई तकनीक को बढ़ावा देने में अपना योगदान दिया है। डिजिटल स्वास्थ्य एक व्यापक अवधारणा है जो स्वास्थ्य सेवाओं को डिजिटल तकनीकी से जोड़ता है।

स्वास्थ्य देखभाल के कई क्षेत्रों में डिजिटल तकनीक का उपयोग किया जाता है जिसमें से कुछ का विवरण बिंदुवार उत्कीर्ण किया गया हैः–

- चिकित्सा संबंधी जानकारी और डाटा तक बेहतर पहुंच– यह रोगी की सर्वोत्तम देखभाल हेतु कुछ ही मिनट में जानकारी को एक्सेस करने और साझा करने में सक्षम है।
- संचार की डिजिटल सुविधा– यह सुविधा ईमेल, स्मार्टफोन और विभिन्न डिजिटल तकनीक के माध्यम से रोगी के साथ बहुत आसानी से संपर्क कर सकने में सक्षम हैं साथ ही रोगी बिना अस्पताल आए स्वास्थ्य के परिणामों को डिजिटल तकनीकों के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं। चिकित्सकगण भी अपने चिकित्सा संबंधी अनुभवों व जानकारियों को प्रौद्योगिकी के माध्यम से ऑनलाइन प्लेटफॉर्म पर साझा कर सकते हैं।
- इलेक्ट्रॉनिक स्वास्थ्य रिकॉर्ड– यह वर्चुअल तकनीक के माध्यम से कागज रहित प्रणाली द्वारा रोगी के स्वास्थ्य रिकॉर्ड को व्यवस्थित करता है।
- टेलीमेडिसिन और टेलीहेल्थ– यह ऐसे ग्रामीण इलाके जहां विशिष्ट चिकित्सा सुविधा उपलब्ध नहीं है वहां पर चिकित्सा संबंधी सुविधाएं उपलब्ध कराता है।
- हेल्थ एप्स– डिजिटल क्रांति के पश्चात सैकड़ो हेल्थ एप्स का निर्माण हुआ है इसकी सहायता से रोगी के स्वास्थ्य को आसानी से नियंत्रित और नियमित किया जा सकता है। इसमें मोबाइल स्वास्थ्य (एमहेल्थ) ऐप्स, इलेक्ट्रॉनिक स्वास्थ्य रिकॉर्ड (ईएचआर), इलेक्ट्रॉनिक मेडिकल रिकॉर्ड (ईएमआर), दवा का प्रशासन ,3 डी प्रिंटिंग, कृत्रिम अंगों का डिजाइन ,रोबोटिक सर्जरी, आभासी वास्तविकता (टेलीहेल्थ) और टेलीमेडिसिन, साथ ही वैयक्तिकृत चिकित्सा जैसी आधुनिक सुविधाएं शामिल है।

परंतु पुराने पीढ़ी की तुलना में नई पीढ़ी का अधिक सफलतापूर्वक तकनीको से अनुकूल होने की प्राकृतिक क्षमता के कारण वयस्कों और वृद्धों के बीच डिजिटल तकनीकी उपयोग को लेकर एक बड़ी दूरी अर्थात डिजिटल गैप का जन्म हुआ है। पुरानी पीढ़ी, नई पीढ़ी की तरह डिजिटल रूप से साक्षर ना होने के कारण इन तकनीकों का प्रभावी ढंग से उपयोग कर सकने में खुद को असमर्थ पाती हैं फलस्वरुप वे स्वास्थ्य सेवाओं का लाभ नहीं ले पाती हैं। आजीवन डिजिटल तकनीकों से संपर्क न होने पर उन्हें इसमें कुशलता हासिल करने और तकनीक को अपने जीवन में शामिल करने हेतु स्वयं को अनुकूलित करना पड़ता है। इस डिजिटल तकनीकी उपयोग में अंतरपीढ़ी असमानता का कारण वृद्धों का तकनीक को लेकर असुरक्षा, अविश्वास और असुविधाजनक महसूस करना ,स्मृति में गिरावट, अधिक लागत और प्रेरणा ,आत्मविश्वास साथ ही समर्थन एवं सहयोग में कमी होना हो सकता है।

डिजिटल डिवाइड शब्द 1990 के दशक में प्रचलन में आया। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ डिजिटल तकनीक के उपयोग में उस असमानता से है जो अलग–अलग लोगों में इसके उपयोग में दक्षता एवं अक्षमता को प्रदर्शित करती है। वस्तुतः यह अंतर मूलरूप से अलग–अलग आयु वर्ग के लोगों में देखने को मिलती है । पुरानी पीढ़ी की तुलना में वयस्कों द्वारा नई तकनीकों से अनुकूल होने की दर अत्यधिक है जो इसका प्रमुख कारण है । इस प्रकार अलग–अलग पीढियों के द्वारा डिजिटल तकनीक के उपयोग के आधार पर हम अन्तरपीढ़ी असमानता को भी देख सकते हैं। नस्ल, जाति, लिंग, शिक्षा, सामाजिक–आर्थिक स्थिति तथा उम्र के आधार पर सूचना प्रौद्योगिकी के उपयोग करने की क्षमता भी अलग–अलग होती है।

डिजिटल डिवाइड को तीन पक्षों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है –

- **प्रथम पहुंच विभाजन**, यह विभाजन ऐसे लोगों के मध्य अंतर प्रदर्शित करता है जिसमें से कुछ लोग तकनीकी उपकरणों का वहन करने में सक्षम होते हैं जबकि कुछ नहीं।

- **द्वितीय उपयोग विभाजन**, यह विभाजन उन लोगों के मध्य है जिनमें से कुछ तकनीकी का उपयोग करना जानते हैं जबकि कुछ नहीं जानते हैं।
- **तृतीय उपयोग के गुणवत्ता में अंतर** , इस अंतर को सूचना व संचार प्रौद्योगिकी उपयोग के कौशल से संदर्भित किया जा सकता है जो व्यक्ति को प्राप्त होने वाली डिजिटल शिक्षा की गुणवत्ता से प्रभावित होती है।

डिजिटल डिवाइड के अंतर्गत दो अवधारणाओं को स्पष्ट करना आवश्यक है ,पहला **डिजिटल नेटिव्स और दूसरा डिजिटल इममाईग्रैंट** । 1980 के बाद जन्म लेने वाले पीढ़ी डिजिटल नेटिव्स, जिसके अंतर्गत बच्चे, किशोर व युवा वर्ग शामिल होते हैं जो वर्तमान तकनीकी उपयोग में दक्ष होते हैं तथा 1980 के पहले जन्म लेने वाले पीढ़ी को डिजिटल इममाईग्रैंट के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है जिसके अंतर्गत प्रौढ़ व वृद्ध पीढ़ी को शामिल किया जाता है जिन्हें तकनीकी उपयोग हेतु संघर्ष करना पड़ता है।

कम्प्यूटर और इंटरनेट के व्यापक उपयोग को देखते हुए इस अंतर का व्यक्तियों के नौकरियों, सामाजिक सेवाओं, शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल और कई महत्वपूर्ण परिणामों तक पहुँच पाने की क्षमता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है इसके साथ ही नस्ल, जाति, लिंग, शिक्षा, सामाजिक–आर्थिक स्थिति, राष्ट्रीय अंतर एवं उम्र के आधार पर सूचना प्रौद्योगिकी के उपयोग करने की क्षमता भी अलग–अलग होती है। सूचना व संचार प्रौद्योगिकी के विकास से डिजिटल उपकरणों और सूचना संग्रहण उपकरणों के स्वरूप में तेजी से परिवर्तन हुआ है । जहाँ पुराने पीढ़ी के लोग फ्लॉपी डिस्क, मैग्नेटिक टेप, टाइपराइटर, प्रोजेक्टर, कैलकुलेटर, डी0वी0डी0 प्लेयर, टेप रिकॉर्डर इत्यादि उपकरणों का प्रयोग करते थे वही इसकी जगह अब स्मार्टफोन, लैपटॉप, टैबलेट, ब्लूटूथ, पेनड्राइव तथा उन्नत वायरलेस उपकरणों ने ले लिया है। वर्तमान काल वैश्विक महामारी कोविड–१६ से बुरी तरह प्रभावित हुआ है इस महामारी का असर जहाँ एक तरफ रोजगार एवं आर्थिक गतिविधियों पर पड़ा है वहीं दूसरी तरफ इसने लोगों के दैनिक जीवन को भी प्रभावित किया है। जहाँ लॉकडाउन के समय नयी पीढ़ी डिजिटल रूप से आत्मनिर्भर होने फलस्वरूप अपने कार्यों का निर्वहन आसानी से कर पा रही थी वहीं दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी स्वयं को असहज महसूस कर रही थी।

साहित्य सर्वेक्षण–

गेटाचेव एम्बेट (2023), डिजिटल तकनीक के माध्यम से स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली की सही क्षमता सामने आई है जिसमें कोविड–19 की महामारी के दौरान डिजिटल स्वास्थ्य रोगियों का इलाज करना, निगरानी करना, रोगों को ठीक करने की प्रक्रिया में तेजी लाना, पर्यावरण को शामिल करना, इलेक्ट्रॉनिक चिकित्सा और स्वास्थ्य रिकॉर्ड की स्थापना जैसी कई सुविधाएं उपलब्ध करा रही है।

मिडलटन जॉन(2023), इन्होंने प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। डिजिटल स्वास्थ्य ने प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं के भविष्य को आकार देने के लिए संभावनाओं और अवसरों के द्वार खोल दिया है। इसके माध्यम से डुप्लीकेट देखभाल प्रक्रिया को रोकने साथ ही चिकित्सकगण और रोगी के संचार में सुधार भी लाया जा सकता है।

अलघमदी एस नोहा (2022), डिजिटल तकनीक के उपयोग के माध्यम से कोविड–19 के दौरान चिकित्सा परामर्श प्रदान करने, स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने, वायरस के प्रसार को ट्रैक करने के लिए और उसे रोकने में एक महत्वपूर्ण समाधान के रूप में पहचान गया है।

कल्होरी शरारेह(2020), स्वास्थ्य में डिजिटल तकनीक के आवश्यकता पर जोर दिया है। 21वीं सदी में दुनिया भर में उपलब्ध सूचना प्रौद्योगिकी की क्षमता को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है की महामारी और स्वास्थ्य संबंधी संकटों के प्रबंधन हेतु उच्च स्तर की क्षमता वाले डिजिटल स्वास्थ्य उत्पादों को लागू किया जाना चाहिए।

चंद्र मुकेश और कुमार कुनाल (2022),डिजिटल तकनीकों और उपकरणों ने विकसित और विकासशील देशों को कोविड अवधि के दौरान और कोविड के बाद स्वास्थ्य सेवा वितरण हेतु एक रूपरेखा तैयार करने का अवसर प्रदान किया है।

भारत में डिजिटल तकनीकी द्वारा स्वास्थ्य सुविधाओं तक समान पहुंच बनाने के दिशा में भारत सरकार द्वारा कई महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं जो इस प्रकार से बिंदुवत है –

- **मदर एंड चाइल्ड ट्रैकिंग सिस्टम(2009)–** यह वेब आधारित कार्यक्रम है जिसमें शिशु और मातृ मृत्यु दर में कमी लाने के उद्देश्य से महिला के गर्भवती होने से लेकर बच्चों के जन्म और उसके बाद तक नजर रखी जाएगी । इसके माध्यम से महिलाओं की जानकारी को सिस्टम पर अपलोड किया जाता है साथ ही बच्चों को समय पर टीकाकरण और पोषक तत्व मुहैया कराया जाता है।
- **एम सखी (2012)–**इस मोबाइल एप्स के माध्यम से सामाजिक स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं (आशा) और (एएनएम) सहायक नर्सदाइयों और आंगनबाड़ी कार्यकर्ताओं के कार्यों की निगरानी और उनका सुवास्थितकरण किया जाता है। इसका उद्देश्य मात्त ,नवजात और बाल स्वास्थ्य में सुधार हेतु अग्रिम पंक्ति के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को जागरूक करना है।
- **निक्षय (2012)–** यह वेब आधारित प्रणाली है जो टीबी नियंत्रण के लिए राष्ट्रीय छय रोग उन्मूलन कार्यक्रम का प्रबंध करता है । इसका उपयोग देश भर में सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों में विभिन्न स्तरों पर स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं द्वारा किया जाता है इसके अंतर्गत मामलों का पंजीकरण, उपचार का विवरण रखना ,प्रयोगशालाओं का निर्देशन करना, उपचार की निगरानी और रिपोर्टिंग करने जैसे कार्यों का समावेश किया गया है।
- **राष्ट्रीय स्वास्थ्य पोर्टल (2014)**–यह पोर्टल पास स्वास्थ्य सुविधाओं पर मुख्य रूप से केंद्रित है जो बिंदुवत हैः अस्पताल सूचना प्रणाली, सिटिजन पोर्टल, आपूर्ति श्रृंखला प्रबंधन, सरकारी संसाधन योजना, एकीकृत सार्वजनिक स्वास्थ्य समाधान।
- **ऑनलाइन रजिस्ट्रेशन सिस्टम (2014)–** यह विभिन्न अस्पतालों को एक साथ जोड़ने का कार्य करता है। यह ऑनलाइन आधारित रजिस्ट्रेशन और नियुक्ति सिस्टम है जहां ६१ अस्पतालों को डिजिटल माध्यम से व्यवस्थित किया जा रहा है। इसका उद्देश्य आयुष्मान भारत स्वास्थ खाते के साथ एकीकरण और रोगी के लिए अस्पताल सेवाओं तक ऑनलाइन पहुंच प्रदान करना है।
- **कॉमन सर्विस सेंटर 2.0 (2015)–** यह 2006 के कॉमन सर्विस सेंटर का उन्नत स्वरूप है । कॉमन सर्विस सेंटर ग्रामीण इलाके में एक डिजिटल प्लेटफॉर्म उपलब्ध कराता था जिसके माध्यम से वहां के निवासियों को स्वास्थ्य संबंधी सेवाएं प्रदान करता था। कॉमन सर्विस सेंटर 2. 0 में इस सुविधाओं को सभी ग्राम पंचायत तक विस्तारित कर दिया गया है। इन सुविधाओं में ई गवर्नेंस, शिक्षा, स्वास्थ्य, टेलीमेडिसिन, मनोरंजन के साथ अन्य निजी सेवाओं के क्षेत्र में उच्च गुणवत्ता और लागत प्रभावी वीडियो, वॉइस और डाटा सामग्री तथा सेवाएं प्रदान करता है।
- **ई रक्तकोष (2016)–** इस ऐप के माध्यम से देश भर के सारे ब्लड बैंक तक पहुंच आसान बनाया जाता है। ब्लड बैंक की जानकारी उपयोगकर्ता के वर्तमान स्थान और दूरी के आधार पर आरोही क्रम में प्रदर्शित की जाती है। उपयोगकर्ता विशिष्ट राज्य या जिले के आधार पर भी ब्लड बैंक को खोज सकता है साथ ही इससे ब्लड बैंकों से कॉल और ईमेल के माध्यम से सीधे संपर्क स्थापित किया जा सकता है।
- **ई अस्पताल (2017)–** यह एक खुला स्वास्थ्य सूचना प्रबंधन प्रणाली है जो एक क्लाउड संरचना के अंतर्गत अनेक अस्पतालों के कार्यों का प्रबंधन हेतु व्यवस्थित किया गया है । जिसमें रोगी का पंजीकरण, प्रयोगशाला कार्य और अन्य अस्पताल संबंधित कार्यों को शामिल किया गया है।

देशभर में १००० से अधिक अस्पताल स्वास्थ्य सुविधा हेतु ई अस्पताल का उपयोग कर रहे हैं जो आयुष्मान भारत डिजिटल मिशन के नियमों के अनुरूप है।

- **ई औषधि (2019)–** आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी और होम्योपैथी औषधिओ की ऑनलाइन लाइसेंस प्रणाली के लिए ई औषधि नामक पोर्टल की शुरुआत की गई। इसका लक्ष्य पारदर्शिता बढ़ना, सूचना प्रबंधन, सुविधा में सुधार लाना, डाटा के इस्तेमाल में सुधार लाना और उत्तरदायित्व बढ़ाना है।
- **राष्ट्रीय डिजिटल स्वास्थ्य मिशन एनडीएचएम (2020)–** पूर्ण डिजिटल स्वास्थ्य परिस्थितिकीय पर आधारित इस डिजिटल मिशन के अंतर्गत मुख्य चार पहलुओं जिसमें हेल्थ आईडी, व्यक्तिगत स्वास्थ्य रिकॉर्ड, डीजी डॉक्टर और स्वास्थ्य सुविधा रजिस्ट्री जैसी सुविधाएं शामिल हैं। नेशनल हेल्थ स्टैंक के सिद्धांतों पर आधारित यह मिशन 'केंद्रीय स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय' द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।
- **एकीकृत स्वास्थ्य सूचना मंत्र आईएचआईपी (2021)–** स्वास्थ्य और कल्याण मंत्रालय द्वारा स्थापित इस मंच का प्राथमिक उद्देश्य मानकों के अनुरूप इलेक्ट्रॉनिक स्वास्थ्य रिकॉर्ड का निर्माण करना है। यह वर्तमान में प्रयोग की जा रही है 'एकत्रित रोग निगरानी कार्यक्रम' का उन्नत स्वरूप है।
- **आयुष्मान भारत डिजिटल मिशन (2021)–** यह एक राष्ट्रीय पहल है जिसका उद्देश्य देश के डिजिटल स्वास्थ्य बुनियादी ढांचे को विकसित करना है। यह 2018 में शुरू की गई आयुष्मान भारत योजना का अगला चरण है यह सभी भारतीय नागरिकों को अस्पतालों, बीमा कंपनियों और डिजिटल स्वास्थ्य आईडी भी प्रदान करता है। इसकी सहायता से इलेक्ट्रॉनिक रूप से स्वास्थ्य रिकॉर्ड तक पहुंच आसान हो गई है।

निष्कर्षः–

वर्तमान समाज में डिजिटलीकरण सतत विकास लक्ष्य विशेष रूप से स्वास्थ्य के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता बनता जा रहा है। दुनिया भर में स्वास्थ्य के क्षेत्र में हुए डिजिटल क्रांति के माध्यम से विभिन्न नए–नए स्वास्थ्य सुविधाओं में वृद्धि हुई है जिसमें स्वास्थ्य की गुणवत्ता, सुरक्षा और दक्षता को कई गुना बढ़ा दिया है। इन्हीं परिवर्तनों के बीच जीवन के सभी क्षेत्र के डिजिटलीकरण के कारण वयस्कों और वृद्धो के बीच एक बड़ी दूरी डिजिटल असमानता या डिजिटल दूरी को जन्म दिया है। स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं की आवश्यकता की दर वृद्धो में ज्यादा पाई जाती है परंतु वृद्धो के डिजिटल रूप से साक्षर ना होने के कारण वे डिजिटल स्वास्थ्य सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पाते हैं और आज की पीढ़ी इन तकनीकों से अनुकूल होने के कारण आसानी से इनका लाभ ले पाती हैं। इस अंतरपीढ़ी असामानता को कम करने और साथ ही सतत विकास लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु डिजिटल साक्षरता को बढ़ावा देने की आवश्यकता है ताकि डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं का लाभ समाज के अंतिम व्यक्ति तक पहुंच सके।

सुझाव

- ऐसे लोग जो प्रौद्योगिकी से परिचित नहीं है विशेषतया ग्रामीण इलाके में रहने वाली आबादी और वृद्ध जिनके पास आवश्यक डिजिटल कौशल का अभाव है उन्हें डिजिटल रूप से साक्षर करना चाहिए ।
- डिजिटल तकनीक के माध्यम से प्राप्त होने वाली स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं का लाभ समाज की पुरानी पीढ़ी को भी मिल सके। इसके लिए एक कम अंक वाले टोल फ्री नंबर की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वह बिना किसी परेशानी के टोल फ्री नंबर को याद रख सके।

- डिजिटल स्वास्थ्य संबंधी मोबाइल एप्स और वेब आधारित सुविधाओं के उपयोग हेतु वृद्धो को डिजिटल रूप से साक्षर करने की आवश्यकता है।
- सरकार को सस्ता और कम लागत वाले इंटरनेट कनेक्टिविटी और एक आवश्यक बुनियादी ढांचे की व्यवस्था करनी चाहिए।
- वृद्धो की सुविधा को ध्यान में रखते हुए मोबाइल फोन में आकस्मिक सेवा जैसे कि कीपैड के किसी नंबर पर ऐसे स्पीड डायल नंबर की व्यवस्था होनी चाहिए जो उन्हें स्वास्थ्य सेवाओं से तुरंत ही संपर्क स्थापित कर लाभान्वित कर सके।
- स्वास्थ्य संबंधी रिकार्ड के सुरक्षित संग्रहण और प्रबंधन हेतु ब्लॉकचेन तकनीक का प्रयोग करना चाहिए ताकि रोगी और चिकित्सकगण अपने डेटा को नियंत्रित कर सके।
- डिजिटल साक्षरता हेतु स्थानीय भाषाओं के समावेश की भी आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ–

- Middleton, John(2023), a systematic scoping review of digital health technologies during covid 19, health and technology publication.
- Getachew, Emnet(2023), digital health in the era of covid 19: Resapping the next generation of healthcare, health and technology publication.
- Alghamdi, s Noha(2022), the role of digital technology in curbing covid 19, international journal of environmental research and public health.
- Chandra,Mukesh and Kumar,kunal(2022), digital technology, healthcare and covid 19, health and technology publication.
- Kolhori, Sharareh(2020), review study of digital health related solution to Central covid 19 pandemic, journal of medical internet research
- Martono,Nanang & Naura, Khansa Nabilla (2020),The *Strategy of Poor Students Dealing With The Home Learning System*, Journal of Society and Media
- Jerman,Borka(2019),*Overcoming the Digital Divide With a Modern Approach* to *Learning Digital Skill for the Elderly Adults*, Scholars Portal Journals
- Dianna & Dianna(2018), *Age and the Digital Divide, Journal of Strategic Innovation*
- Edewor,Nelson(2016),*Elderly People and Their Information Needs*, library Philosophy and Practice e-Journal
- The Digital Transformation of Healthcare. European Commission. 2018.Available at: URL:https://ec.europa.eu/commission/presscorner/detail/en/MEMO_18_3367 [accessed 2022-08-08]

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

नगरों के विकास में स्थानीय निकायों की भूमिका : आजमगढ़ के विशेष संदर्भ में

दीपिका सिंह
शोध–छात्रा (राजनीति विज्ञान)
डॉ0 सुजीत कुमार श्रीवास्तव
प्रोफेसर (राजनीति विज्ञान विभाग)
डी0ए0वी0पी0जी0 कॉलेज, आजमगढ़

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहना उसका स्वभाव है। उसकी अनेक आवश्यकताएँ है, जिनकी पूर्ति वह दूसरों के साथ मिलकर करता है। अतः वह अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के संघो, समुदायों, संगठनों आदि का निर्माण करता है। राज्य इन्हीं मानवीय संगठनों में सर्वोच्च, श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन है। आज राज्य का आकार विशाल एवं जनसंख्या में भारी वृद्धि हो गयी है। लोकतंत्रात्मक, लोक कल्याणकारी, समाजवादी राज्य के कार्यों का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है। फलस्वरूप किसी देश के लिए केन्द्र या राजधानी से शासन को सुचारू एवं सुव्यवस्थित ढंग से चलाना एक जटिल समस्या है। इसके दो मुख्य कारण है– प्रथम सभी कार्यों के लिए केन्द्र के पास समय का अभाव है। दूसरा, यह आवश्यक नहीं है कि सभी कार्यों का सम्बन्ध केन्द्र या राष्ट्र से हो। कुछ कार्यों का सम्बन्ध राष्ट्र से, कुछ का प्रान्त से, कुछ का स्थान–विशेष से होता है, अतः ये सभी तत्व मिलकर सत्ता, अधिकार, शक्ति और उत्तरदायित्व के विकेन्द्रीकरण की मांग करते हैं, जो स्थानीय शासन को जन्म देता है।

अध्ययन क्षेत्र आजमगढ़ उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित है जो गोमती नदी के बायें किनारे तथा घाघरा (सरयू) नदी के दायें किनारे पर स्थित एक प्राचीन व ऐतिहासिक जनपद है। सन् 1665 में राजा हरबंश सिंह (पौत्र) राजा आजम शाह ने एक नगर के रूप में बसाया था। सन् 19 नवम्बर 1988 को इस जनपद को आजमगढ़ और मऊ में विभाजित किया गया है। इस जनपद का विस्तार पूर्वी उत्तर प्रदेश में 25 अंश 28 मिनट से 26 अंश 27 मिनट उत्तरी अक्षांश तथा 82 अंश 41 मिनट से 83 अंश 52 मिनट पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। अब इस जनपद का क्षेत्रफल 4054 वर्ग किमी0 है। आजमगढ़ जनपद का पूर्वी सीमा मऊ, दक्षिण पूर्व गाजीपुर, दक्षिण जौनपुर, पश्चिम–सुल्तानपुर उत्तर पूर्व–अम्बेडकरनगर गोरखपुर द्वारा निर्धारित होता है।

तमसा नदी के तट पर स्थित आजमगढ़ उत्तर प्रदेश राज्य का एक महत्ववपूर्ण जिला है। यह जिला उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित है। आजमगढ़ गंगा और घाघरा नदी के मध्य बसा हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह स्थान काफी महत्वपूर्ण था। यह जिला मऊ, गोरखपुर, गाजीपुर, जौनपुर, सुल्तानपुर और अम्बेडकर जिले की सीमा से लगा हुआ है। पर्यटन की दृष्टि से महराजगुंज, दुर्वासा, मुबारकपुर, मेंहनगर, भंवरनाथ मन्दिर और अवन्तिकापुरी आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध है। विक्रमजीत सिंह गौतम के पुत्र आजम शाह, जो एक शक्तिशाली जमींदार था, शाहजहाँ के शासनकाल के दौरान 1665 ई0 में आजमगढ़ की स्थापना करवाई थी। इसी कारण इस जगह को आजमगढ़ के नाम से जाना जाता है। स्वतंत्रता आंदोलन के समय में भी इस जगह का विशेष महत्व रहा है। इस जनपद को नवाब आजमशाह ने बसाया था, इसी कारण इसका नाम आजमगढ़ पड़ा। 15 नवम्बर 1994 को चौदहवें मण्डल के रूप में ''आजमगढ़ मण्डल'' का सृजन किया गया।

प्राचीन काल में भारत में नगरीय शासन भी विधमान था। मेगनस्थनीज ने तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के एक नगर के शासन का वर्णन किया है। वह लिखता हैः–

''जिनके सुपुर्द नगर का कार्यभार है। वे पाँच–पाँच सदस्यों की छः समितियों में विभक्त है। प्रथम समिति के सदस्य औद्योगिक कलाओं से सम्बन्धित प्रत्येक चीजों की देखभाल करते है। दूसरी

समिति के सदस्यों का कार्य विदेशियों का स्वागत सत्कार करना है। वे उनके लिए आवास निर्धारित करते है तथा उन व्यक्तियों के द्वारा उनके जीवन प्रणाली पर निगाह रखते है जिन्हें ये उनकी सहायता के लिए नियुक्त करते हैं। जब वे विदेशी देश छोडकर जाते है तो ये उनकी रक्षा के लिए मार्ग में साथ–साथ जाते है अथवा उनकी मृत्यु हो जाने पर वे उनका सामान उनके सम्बन्धियों के पास भिजवा देते है। उनके बीमार पड़ जाने पर ये उनकी सेवा शुश्रूषा करते तथा मर जाने पर दफना देते है। तीसरी समिति के सदस्य इस वात का पता लगाते कि जन्म और मृत्यु कब और कैसे होती है। यह काम कर निर्धारित करने की ही दृष्टि से नहीं किया जाता बल्कि उसका उद्देश्य यह भी है कि उच्च अथवा निम्न किसी भी वर्ग में होने वाले जन्म और मृत्यु सरकार की दृष्टि से बच न सके। चौथा निकाय व्यापार तथा वाणिज्य का निरीक्षण करता था। उसके सदस्यों पर बांटों और मापकों का उत्तरदायित्व है और वे इस बात कि व्यवस्था करते है कि फसल की वस्तुएँ सरकारी विज्ञापनों द्वारा बेची जाए। किसी व्यक्ति, को, यदि यह दूना कर नहीं चुकाता, एक से अधिक वस्तु का व्यापार करने की अनुजा नहीं दी जाती। पांचवी समिति निर्मित वस्तुओं का निरीक्षण करती है. ये वस्तुएँ भी सार्वजनिक विज्ञापन के द्वारा बेची जाती है। नवीन वस्तुएँ पुरानी वस्तुओं से पृथक बेची जाती है और दोनों को मिलाकर बेचने के लिए जुर्माने का दण्ड दिया जाता है। अन्तिम और छठी समिति बिकी हुई वस्तुओं के मूल्य का दशांश वसूल करने का काम करती है।''

मुगल काल में भी ग्राम–प्रशासन का अपना विशेष महत्व था। अकबर ने ग्राम पंचायतों को वैधानिक रूप से न्याय करने वाली संस्थाओं के रूप में स्वीकार कर लिया था और इनके न्याय नियमों को अपनी ओर से मान्यता प्रदान की थी। डा० आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव के शब्दो में, ''अकबर ने नगर प्रशासन को पूर्वकालीन हिन्दू व्यवस्था पर आधारित किया था और ये नगर सामाजिक एवं मानवतावादी कार्य विधियों के मध्य स्थल बन गये थे। शाही आजा आदेशों को दृढ़ता से पालन करवाते हुए कोतवाल ही सती प्रथा, बलात् धर्म–परिवर्तन, कम उम्र में की जाने वाली शादी सम्बन्धी, भ्रूण हत्याओं तथा अन्य प्रकार के दुराचारों पर कड़ा प्रतिबंध रखता था। दुराचारिणी स्त्रियों को शहर से बाहर रखा जाता था कोतवाल ऐसी स्त्रियों की एक सूची रखता था तथा जो लोग इनके पास आते–जाते थे, उन पर निगरानी रखता था। मुगल काल में नगर प्रशासन का अपना विशेष महत्व था। कोतवाल प्रमुख रूप से जिम्मेदार अधिकारी होता था।

पौराणिक आख्यानों और रामायण काल की भौगोलिक स्थिति का आकलन करे तो यह कौशल राज्य का एक हिस्सा था। ऋषि विश्वामित्र राम–लक्ष्मण को सरयु (घाघरा) के किनाने–किनारे लेकर बलिया होते हुए जनकपुर सीता स्वयंवर में ले गए थे। जनश्रुति के अनुसार वे एक रात्रि सस्युतट पर दोहरीघाट में विश्राम किए थे इसीलिए इसका नाने दोहरीघाट पड़ा। महराजगंज स्थित भैरव वावा का स्थान एक विचित्र बिंदु पर पड़ता है और यह तत्कालीन संस्कृति के एक केन्द्र के रूप में था। विचित्रता यह है कि भैरव जी से पश्चिम में अयोध्या उत्तर में गोरखनाथ की भूमि गोरखपुर और दक्षिण में बाबा विश्वनाथ की नगरी और भारत की सांस्कृतिक राजधानी वाराणसी बराबर दूरी पर है। यहाँ से ये तीनों स्थान लगभग चालीस कोस (120 किमी) की दूरी पर हैं। यह अपनी संस्कृति, शौर्य और आस्था के लिए प्रसिद्ध था और जनश्रुति के अनुसार यहाँ पर राजा दक्ष ने यज्ञ किया था।

आजमगढ़ की सरकारी वेबसाइट और कुछ अन्य स्रोतों की मानें तो रामकाल में आजमगढ़ में राजभर या भर समुदाय का वर्चस्व था और उसी की सत्ता थी। चूंकि इस क्षेत्र में बाहरी शक्तियों के आक्रमण का भय कम था, इसलिए यहाँ किलों तथा अन्य राजकीय महलों का कोई अवशेष नहीं मिलता। यदि आजमगढ़ में किलों की बात की जाए तो एक किला घोसी में है जो राजा घोष ने बनवाया था। किंतु, इस पर भी मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि इसे असुरों ने बनवाया था।

आजमगढ़ का प्राचीन इतिहास अन्य भारतीय स्थानों की भांति अपमाणित ही है क्योंकि भारत में कभी इतिहास लिखने की परंपरा ही नहीं रही। देश का इतिहास और इतिहास लेखन पहले अंग्रेजों ने

सत्यानाश को समर्पित किया और बाद में प्रायोजित तौर पर लिखने वाले 'महान वामपंथी इतिहासकारों' ने। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने भी कुछ पाने के लिए कोई खास जहमत नहीं उठाई और यदि कहीं उठाई और प्रमाण भी दिया तो सरकारों और युद्धिजीवियों ने मानने से साफ इन्कार कर दिया। विश्वास न हो तो अयोध्या प्रकारण देख सकते हैं। आजमगढ़ में ऐसे अनेक स्थल है जिनकी खुदाई की गई होती तो अनेक रहस्यों से पर्दा उठता। मौजी में जहाँ मिडिल स्कूल यदि वहाँ के ऊँचे टीले की खुदाई होती तो कुछ रहस्योद्घाटन हो सकता था। किसी समय यहाँ कूपर साह्य का बंगला था और उससे पहले यहाँ शुजाउद्दौला के समय हिंदुओं और मुसलमानों में संघर्ष हुआ था।

1192 के तराइन के युद्ध में पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गोरी के हाथी पराजित हुआ तथा उसे बंदी बनाकर गजनी ले जाया गया और वहीं उसे मार डाला गया। 1193 में जयचंद भी मारा गया और वाराणसी सहित आजमगढ़ (तब आजमगढ़ वाराणसी का ही एक भाग था और आजमगढ़ नामकरण नहीं हुआ था) गोरी के नुमाइंदों के हाथ में आ गया।

भारत में नगरीय प्रशासन, राजनीति के अन्तर्गत प्रशासनिक व्यवस्था के उद्भव के साथ ही उद्भूत हुआ। निश्चित समयान्तराल पर इसका उत्तरोत्तर विकास होता चला गया। किन्तु इसका आधुनिक स्वरूप औपनिवेशिक शासनकाल में ही विकसित हुआ। नगरीय प्रशासन वास्तव में 1687 में मद्रास नगर निगम की स्थापना के साथ ही व्यवहृत हुआ। पुनः 1726 में कलकत्ता नगर निगम एवं बम्बई नगर निगम की स्थापना की गई। ब्रिटिश शासनकाल में ही लार्ड रिपन के समय 1881 में स्थानीय शासन को विधि–विधान के दायरे मे लाया गया। इसके पूर्व नवस्थापित नगरीय निकायों का प्रशासन विभिन्न अधिनियमों के अन्तर्गत बने नियम, विनियम, तथा उपनियमों द्वारा संचालित होता था। जैसे संयुक्त प्रान्त म्यूनिसिपैलिटीज अधिनियम 1873' तथा संयुक्त प्रान्त अधिनियम 1877 आदि। भिन्न–भिन्न नियम, विनियम, उपनियम द्वारा संचालित होने के कारण विभिन्न नगरीय निकायों की कार्यप्रणाली एवं उसके स्वरूप में पर्याप्त भिन्नता थी।

अतएव समस्त नगरीय निकायों, यथा नगर निगमों व नगरपालिका बोर्डों के स्वरूप एवं कार्यप्रणाली में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उ0प्र0 नगरपालिका परिषद अधिनियम 1916 बनाया गया। इसके अन्तर्गत विभिन्न शहरों में स्थापित नगरपालिका परिषदों के शासन प्रशासन एवं कार्यप्रणाली को विनियमित करने का प्रयास किया गया।

भारत में स्थानीय शासन, प्रशासनिक व्यवस्था के उदय के साथ ही व्यवहृत होने लगा था। उत्तरोत्तर इसमें विकास होता चला गया। किन्तु अपने आधुनिक स्वरूप को इसने ब्रिटिश शासन के दौरान लार्ड रिपन के समय 1881 में प्राप्त किया। इसी समय नगर निगम स्थापित किए गए। भारत का प्रथम नगर निगम मद्रास था। आगे चलकर अन्य दो प्रेसीडेन्सी नगरों कलकत्ता एवं बम्बई में स्थापित किया गया। उस समय नवस्थापित नगर निगम/ नगरपालिका बोर्ड का प्रशासन विभिन्न अधिनियमों के अन्तर्गत बने, नियम, विनियम तथा उपनियमों द्वारा प्रशासित होता था। विभिन्न अधिनियम होने के कारण उनके नियम, विनिमय और उपबन्धों में भिन्नता होती थी। इसी कारण अलग–अलग नगर निगम एवं नगरपालिका बोर्डों के प्रशासन एवं कार्यप्रणाली में भी भिन्नता होती थी। अतएव सभी स्थानीय निकायों के प्रशासन एवं कार्य प्रणाली में एकरूपता लाने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा उ0प्र0 नगरपालिका अधि0 1916 पारित किया गया।

2011 में आजमगढ़ की जनसंख्या 4,613,913 थी, जिसमें पुरुष और महिला क्रमशः 2,2,85,004 और 2,328,909 थे। 2001 की जनगणना में आजमगढ़ की जनसंख्या 3,939,916 थी, जिसमें पुरुष 1,950,415 और शेष 1,989,501 महिलाएँ थी। आजमगढ़ जिले की जनसंख्या महाराष्ट्र की कुल जनसंख्या का 2.31 प्रतिशत है। 2001 की जनगणना में आजमगढ़ जिले के लिए यह ऑकड़ा महराष्ट्र की जनसंख्या का 2.37 प्रतिशत था।

2001 की तुलना में जनसंख्या में 17.11 प्रतिशत का परिवर्तन हुआ। भारत की पिछली जनगणना 2001 में आजमगढ़ जिले की जनसंख्या में 1991 की तुलना में 25.93 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई थी।

2011 मे आजमगढ़ की औसत साक्षरता दर 70.93 थी, जबकि 2001 में यह 70.93 थी। अगर लिंग के आधार पर देखा जाए तो पुरुष और महिला साक्षरता दर क्रमशः 81.34 और 43.40 थे। आजमगढ़ जिले में कुल साक्षर 2,771,917 थे, जिनमें से पुरुष और महिला क्रमशः 1,559,414 और 1,212,503 थे। 2001 में आजमगढ़ जिले में 1,790.357 साक्षर थे।

आजमगढ़ में लिंग अनुपात के मामले में यह 2001 की जनगणना के 1020 के मुकाबले 1000 लड़कों पर 1019 था। जनगणना 2011 निदेशालय की नवीनतम रिपोर्टों के अनुसार भारत में औसत राष्ट्रीय लिंग अनुपात 940 है। 2011 की जनगणना में बाल लिंग अनुपात 1000 लड़कों पर 919 लड़कियाँ है, जबकि 2001 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार यह 1000 लड़कों पर 949 लड़कियाँ थीं।

भारत में नगरीय प्रशासन, राजनीति के अन्तर्गत प्रशासनिक व्यवस्था के उद्‌भव के साथ ही उद्‌भूत हुआ। निश्चित समयान्तराल पर इसका उत्तरोत्तर विकास होता चला गया। किन्तु इसका आधुनिक स्वरूप औपनिवेशिक शासनकाल में ही विकसित हुआ। नगरीय प्रशासन वास्तव में 1687 में मद्रास नगर निगम की स्थापना के साथ ही व्यवहृत हुआ। पुनः 1726 में कलकत्ता नगर निगम एवं बम्बई नगर निगम की स्थापना की गई। ब्रिटिश शासनकाल में ही लार्ड रिपन के समय 1881 में स्थानीय शासन को विधि–विधान के दायरे मे लाया गया। इसके पूर्व नवस्थापित नगरीय निकायों का प्रशासन विभिन्न अधिनियमों के अन्तर्गत बने नियम, विनियम, तथा उपनियमों द्वारा संचालित होता था। जैसे संयुक्त प्रान्त म्यूनिसिपैलिटीज अधिनियम 1873' तथा संयुक्त प्रान्त अधिनियम 1877 आदि। भिन्न–भिन्न नियम, विनियम, उपनियम द्वारा संचालित होने के कारण विभिन्न नगरीय निकायों की कार्यप्रणाली एवं उसके स्वरूप में पर्याप्त भिन्नता थी।

चार्टर अधिनियम 1935 द्वारा जहाँ नगरपालिका बोर्ड गठन के सम्बन्ध में मनोनयन के स्थान पर निर्वाचन को अपनाकर लोकतान्त्रिक रीति से गठित उत्तरदायी सस्था का स्वरूप ले रही थी, वहीं उसकी कार्यकारी शक्ति में मजिस्ट्रेट का हस्तक्षेप कम किया गया, मेयर या बोर्ड के अध्यक्ष को शक्तियाँ प्रदान कर उसके पद को सक्षम एवं सशक्त बनाने का प्रयास किया गया। यद्यपि कार्यकारी शक्तियों का मजिस्ट्रेट द्वारा ही व्यवहारतः प्रयोग किया जाता था। उस समय तक नगरपालिका बोर्ड के पास वित्त की शक्ति नहीं थी। इस सम्बन्ध में नगरपालिका बोर्ड या परिषद प्रान्तीय सरकार के बजट पर आश्रित थी। इसके पास कराधान शक्ति नहीं थी। दूसरे शब्दों में वित्तीय मामलों में नगरपालिका बोर्ड पूर्णतः सरकार पर निर्भर थी।

स्वतन्त्रता के पूर्व तक नगरीय प्रशासन के अन्तर्गत नगरपालिका बोर्ड द्वारा नगरों का प्रशासन इसी अधिनियम 1916 के द्वारा सफलतापूर्वक संचालित होता रहा। विभिन्न संशोधनों द्वारा अपनी प्रासंगिकता बदलते परिवेश में भी बनाए रखा। कार्यकारी एवं वित्तीय स्तर पर पूर्ण सशक्त एवं सक्षम न होते हुए भी यह संस्था उतरोत्तर उत्तरदायी प्रशासन एवं लोकतान्त्रिक संस्था के आकार को ग्रहण करती गई।

बदलते दौर में बहते औद्योगीकरण, नगरीकरण से नगरीय निकायों के लिए नगरों के ढाँचों पर बढ़ते दबाव को झेलना संभव नहीं हो पा रहा था। जगह–जगह झुग्गी, झोपड़ियों का जमाव हो रहा था। जो नगर की परिभाषा को मुँह चिढ़ा रही थी। इसी स्थिति में सन् 1992 में 73वाँ 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1994 संसद में पारित हुआ। अनु0 243 में उप अनुच्छेद जोड़े गए। दो नई अनुसूची जोड़ी गई। 11वीं तथा 12वीं। 11वीं अनुसूची पंचायती राज से संबंधित थी, जबकि 12वीं अनुसूची नगरीय निकायों से सम्बन्धित थी।

74वें संशोधन के बाद उ0प्र0 नगरपालिका परिषद अधिनियम 1916 के अध्याय 2 एवं अध्याय 3 में व्यापक परिवर्तन किया गया। अध्याय 4 एवं अध्याय 5 में भी संशोधन किया गया। अध्याय 4 में 4क जोड़ा गया। अध्याय 4क द्वारा नियोजन एवं वित्तीय स्तर पर नगरपालिका के लिए संवैधानिक उपबन्ध किए गए। नगरपालिका के स्पष्ट रूप से 18 विषय निर्धारित किए गए। इस प्रकार उ0प्र0 नगरपालिका अधिनियम 1916 को संवैधानिक दायरे में लाया गया। 74वें संशोधन के बाद उ0प्र0 नगरपालिका अधिनियम 1916 को 21वीं सदी की चुनौतियों से निपटने के लिए नगरीय निकायों नगरपालिका परिषदों के लिए प्रासंगिक बनाया गया।

सन्दर्भ

1. राय कमल कृष्ण, उ0प्र0 नगरपालिका अधिनियम 1916 सं0 2009
2. शर्मा अरुण कुमार, भारत में स्थानीय शासन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995
3. जैन डॉ0 राजेन्द्र, भारत में संघीय वित्त व्यवस्था, म0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 1971
4. श्रीवास्तव एस0एन0 (1983)उत्तर प्रदेश नगरपालिका अधिनियम 2,1916 हिन्दी पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद।
5. श्रीवास्तव बाबूलाल(2016)नगरपालिका निगम अधिनियम–1956, सुविधा लॉ हाउस, भोपाल (म0प्र0)

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

दिव्यांग महिलाओं की परिवार एवं विवाह में भूमिका

पाठक प्रियंका कुमारी
शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग
जगतपुर पी0 जी0 कालेज वाराणसी
प्रोफेसर ज्योति मिश्रा
समाजशास्त्र विभाग
जगतपुर पी0 जी0 कालेज वाराणसी

सारांश–
किसी भी राष्ट्र की प्रगति में महिलाओं का उतना ही योगदान होता हैं, जितना की पुरुष वर्ग का। समाज में अगर स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण में समानता नहीं हैं तो वहां विकास की कसौटी और नतीजे दोनों असमान होंगे, हमारे समाज में स्त्री को सदैव से दोयम दर्जे की मान्यता मिलती रही हैं। महिलांए कई बार अपने न्यूनतम मानवीय अधिकारों से भी वंचित हो जाती हैं, उन्हें जो मिलता भी हैं, उसमे या तो दया भाव छिपा होता हैं या किसी तरह का भेदभाव होता हैं, जबकि बराबरी का दावा करने वाले किसी समाज में यह एक सामान्य विचारधारा होनी चाहिए। जहाँ बात कुछ विशेष महिलाओं की कि जाए तो परिवार और विवाह दोनों में दिव्यांग महिलाएँ और भी अधिक प्रभावित हैं। हमने अपने इस शोध प्रपत्र में समाज में दिव्यांग महिलाओं की क्या स्थिति है तथा वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन व्यतीत करने में उन्हें किस तरह की समस्याएँ आती है उन सभी समस्याओं को वर्णित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत शोध प्रपत्र मे दिव्यांग महिलाओं के बारे में समाज एवं परिवार की प्रतिक्रियाएं किस तरह की होती हैं तथा सरकार ने किस तरह दिव्यांग महिलाओं के लिए वैवाहिक एवं पारिवारिक स्थिति को समझा तथा कानून बनाया हैं इन सभी मुद्दों पर चर्चा की गई है तथा कुछ सुझाव भी हमारे द्वारा देने का प्रयास किया गया हैं।

मुख्य शब्द – समाज ,परिवार, दिव्यांग, महिलाएं, विवाह आदि।

प्रस्तावना : सामान्य रूप में "परिवार" शब्द का अर्थ अलग–अलग हो सकता हैं। परिवार कई आकृतियों और आकारों में आते हैं। लेकिन उन सभी में एक बात समान हैं की वे अपनेपन की भावना प्रदान करते हैं। परिवार भी सीखने और विकास के लिए एक वातावरण प्रदान कर सकते हैं, और दिव्यांग महिला को भी परिवार और विवाह में जीवन व्यतीत करने का मौका दिया जाता हैं। रिश्ते, विवाह और परिवार हर समुदाय के मूल में होते हैं, परिवारों का सार्वभौमिक रूप दिव्यांग महिलाओं के लिए एक समान होना चाहिए। दिव्यांग महिलाओं के लिए परिवार के लोगो से समर्थन और सुरक्षा के एक महत्वपूर्ण स्त्रोत के रूप में देखा जाना चाहिए। दिव्यांग महिलाओं को सामान्य महिलाओं की अपेक्षा और अधिक संघर्ष करना पड़ता हैं। दिव्यांग महिलाओं को भी सम्बन्ध स्थापित करने, विवाह करने का पूरा हक हैं। समाज के लोगो को और परिवार के लोगो तथा सरकार को भी राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय तौर पर दिव्यांग महिलाओं की ओर ध्यान देना चाहिए ताकि वे अच्छे से और आसानी से अपनी पारवारिक और वैवाहिक जीवन व्यतीत कर सके, सरकार को दिव्यांग महिलाओं के लिए कुछ संस्थाएं भी चलाना चाहिए जिससे उन्हें सलाह मील सके परिवार की देखभाल के लिए, बच्चो के पालन पोषण हेतु, आदि। दिव्यांग महिलाओं को भी आम महिलाओं की तरह जीने और खुश रहने का हक होना चाहिए।

दिव्यांग महिलाए अपने परिवार और समुदाय के प्रति अपनी भूमिका को पूरी तरह से महसूस करती हैं। परिवार के लोग कई तरह के होते हैं और अलग अलग परिवार की दिव्यांग महिलाओं के प्रति अलग अलग तरह की प्रतिक्रिया रहती हैं, कहीं दिव्यांग महिला को अभिशाप समझा जाता हैं तो

कही उन्हें बेकार या किसी काम का ना होना ऐसा समझा जाता हैं। परिवार के लोग दिव्यांग महिला को हमेशा ताना देते है की वे कभी बच्चे को जन्म नहीं दे सकती, उनका लालन–पालन नहीं कर सकती, उनकी और समाज की मान्यता हैं की दिव्यांग महिला हमेशा दुसरो के सहारे जीवन यापन करती हैं, वे भला वैवाहिक जीवन को कैसे स्थापित कर सकती हैं। समाज में इस तरह की बहुत खामियां हैं जो दिव्यांग महिलाओं को आसानी से जीने नहीं देती वे हर पल हर वक्त घुट घुट के जीती हैं।

शास्त्रों में वर्णित जीवन के चार आश्रमों में गृहस्थ आश्रम का सीधा सम्बन्ध विवाह से होता है। जिसके अंतर्गत स्त्री और आने वाली पीढ़ी के भरण पोषण के लिए विवाह को अनिवार्य बताया गया है। इतना ही नहीं संपत्ति का उत्तराधिकारी भी समाज में वैध विवाह से उत्पन्न संतान को बनाया जाता है। मनुस्मृति के अनुसार, विवाह कन्या को पत्नी बनने का अधिकार देता है। साथ ही यह धार्मिक रीति रिवाजों के आधार पर संपन्न किया जाने वाला एक संस्कार है। फिनलैंड के दार्शनिक वैस्टरमार्क के अनुसार, विवाह पुरुषों को एक या एक से अधिक स्त्री के साथ संबंध बनाने और संतान उत्पत्ति का अधिकार देता है। हालांकि कई बुद्धिजीवियों के अनुसार विवाह स्त्री और पुरुषों के बीच कामाचार की स्थिति को दर्शाता है लेकिन चार्ल्स डार्विन ने विवाह को संरक्षण की दृष्टि से देखा और परिभाषित किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विवाह सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक रूप से मान्यता प्राप्त संबंध है। जिसे मनुष्य को जीवन की अंतिम सांस तक निभाना होता है।

दिव्यांग महिलाओं के लिए गलत धारणाये युगांडा में एक दिव्यांग लोगो के संगठन ने युगांडा के दिव्यांग व्यक्तियों के राष्ट्रिय संघ (NUDPU) दिव्यांग महिलाओं को आमंत्रित नहीं किया गया तभी वहां पहुंची एक महिला युवा सदस्य ने कहा, ष्हमे इस सामुदायिक अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रमों में आमंत्रित नहीं किया जाता हैं जो हमेशा स्वास्थ्य केन्द्रों पर आयोजित होते हैं..... वास्तव में लोग सोचते हैं की हम योग्य रूप से सक्रिय नहीं हैं क्योंकि हम अक्षम हैं।"

विवाह और पितृत्व अकसर यह माना जाता हैं की दिव्यांग महिलाओं के बच्चे भी दिव्यांग होंगे। दिव्यांग महिलाए स्वतंत्र रूप से अपने बच्चो की देखभाल और समर्थन नहीं कर पाती हैं, अत्यधिक मामलों में, दिव्यांग लोग विशेष रूप से किशोर लड़कियों और वैवाहिक अक्षमताओं वाली महिलाओं को, उनकी इच्छा या सहमती के बिना नसबंदी की गई हैं। दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों पर कन्वेशन अनुछेद २३, विवाह और पितृत्व को संदर्भित करता हैं, दिव्यांग महिलाओं के अधिकारों के लिए शादी करना और एक परिवार बनाना, अपने बच्चो की स्वतंत्रता के बारे में निर्णय लेना अपने परिवार और बच्चों के प्रति स्वतंत्र रूप से जिम्मेदारी को निभाना इन सभी तक पहुंच पाना उनक लिए बहुत ही कठिन हो जाता हैं। दिव्यांग महिलाओं की शादी अगर कर भी दी जाती हैं तो उनके लिए विवाह के बाद बच्चे के बारे में सोचना या अपनी प्रजनन क्षमता को बनाएं रखने के लिए लडना बहुत कठिन समस्या बन जाती हैं।

पारिवारिक सोचः एक दिव्यांग महिला का सपना होता हैं बच्चो के साथ उनका भी एक घर हों लेकिन उनके माता–पिता का कहना होता हैं की शादी उन दिव्यांग महिलाओं के लिए नहीं क्यूंकि वे अपने परिवार की देखभाल नहीं कर पाएंगे और इस तरह के अविश्वास से टूट जाती हैं।

महिलाओं की भूमिका परिवार में अहम् : महिलाओ की भूमिका परिवार में बहुत अहम् होती हैं। अब चाहे वे सामान्य महिला हो या दिव्यांग, जिम्मेदार सभी महिलाए होती हैं। वह महिला बहन, बेटी, पत्नी, और माँ बनकर हर एक भूमिका का निर्वहन बहुत ही खूबसूरती से करती हैं। महिलाए बहुत ही साहसी होती हैं किसी भी समस्या का बहुत ही तार्किक तरीके से समाधान निकालती हैं ।

जहाँ तक हम दिव्यांग महिलाओं की पारिवारिक भूमिका की बात करते हैं तो आज दुनिया में कई ऐसे लोग हैं जिनके पास हाथ व पैर दोनों नहीं लेकिन वह पूरी तरह से स्वस्थ लोगो के लिए प्रेरणा का स्त्रोत बनी हुई हैं, आज कई ऐसी दिव्यांग महिलाएं हैं जो अपने परिवार के लोगो का सहारा

बना हुई हैं। दिव्यांग महिला नौकरी, व्यवसाय, शिक्षा क्षेत्र में शिक्षक बनकर अपना परिवार का भरण पोषण अच्छी तरह से कर रही हैं।

आज सैकड़ों दिव्यांग महिला जो घर में दुबके रहती थी, आज संस्था के प्रयास से वे लोग घर से निकल कर अपना रोजगार, व्यवसाय, शिक्षा प्राप्त कर आत्मनिर्भर बन रही हैं, अगर समाज को कुछ करने की जरूरत हैं तो वह हैं उसे सम्मान व् आदर देने की।

सरकार ने कई प्रकार के दिव्यांग महिलाओं से सम्बंधित योजनाये भी चलायी है जो निम्नलिखित हैं–

विवाह सहायता योजना: दिव्यांग महिलाओं के लिए विकास सहायता, योजना भी चलायी जा रही हैं जहाँ दिव्यांग महिलाओ से शादी करने में उन्हें सामने से पैसे दिए जाते हैं, ताकि वे दिव्यांग महिलाओं से शादी करें और अपनी आजीविका अच्छे से चला सके । दिव्यांग महिलाओं से शादी करने के लिए अगर किसी को भी पैसे दिए जाते हैं तो वो दिव्यांग महिलाओं से शादी कर लेते है।

दिव्यांगजन शादी विवाह प्रात्साहन योजना २०२३ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा राज्य के दिव्यांग नागरिको के लिए दिव्यांगजन शादी विवाह प्रोत्साहन योजना का संचालन किया जा रहा हैं। दिव्यांगजन शादी विवाह प्रोत्साहन योजना के अंतर्गत राज्य के दिव्यांग विवाहित जोड़ो को प्रोत्साहन के रूप में आर्थिक मदद को जाती हैं। इस योजना के तहत दिव्यांग युवको को 15,000रु0 और दिव्यांग युवती को 20,000रु० दिए जाते हैं।

मुख्यमंत्री सामूहिक विवाह योजना: योगी सरकार ने गरीब परिवार की बेटियों की आर्थिक मदद के लिए मुख्यमंत्री सामूहिक विवाह योजना शुरू की हैं, जिसमे उन्हें शादी के वक्त 51 हजार रूपये मिलेंगे।

शादी हेतु अनुदान योजना : अनुसूचित जाती जनजाति के गरीबी की सीमा रेखा से निचे जीवनयापन करने के वाले परिवार, जिनके आय सीमा 10000 रु० वार्षिक अथवा बी०पी० एल० परिवार से सम्बंधित ही की अधिकतम दो पुत्रियों के विबाह हेतु आर्थिक सहायता के रूप में एकमुश्त 50,000 रु0 तक की धनराशि प्रदान की जाएगी।

किसी भी दिव्यांग महिला का विवाह सम्बंधित भूमिका, परिवार बच्चो के पालन पोषण तथा सम्बन्ध की जिम्मेदारी वहन करने से दिव्यांग ता के आधार पर वंचित नहीं किया जाता हैं, अथवा इसके लिए बल प्रयोग करने की पूरी कोशिश की जाती हैं।

निष्कर्ष: दिव्यांग महिलाएं किसी भी तरह से कम नहीं हैं या अपने लिए एक साथी चुनने में अक्षम हैं, सिर्फ इसलिए की वे दिव्यांग हैं, अधिकांश लड़कियों को यह विश्वास दिलाया जाता हैं की उनकी शादी उनके सपनों के लड़के से होगी और उनका अपना एक घर और परिवार होगा। उनमे से अधिकांश इसे सच मानते हैं और अपने बढ़ते वर्षों के दौरान इसकी प्रतीक्षा करते हैं। दिव्यांग लड़की के लिए यह अलग नहीं हैं, हालांकि क्या यह बड़े पैमाने पर उसके परिवार समाज के लिए समान हैं? जबकि नियम के अपवाद उन्हें चाहिए। नतीजन दो चीजो में से एक होता हैं माता–पिता बस इस तथ्य से इस्तीफा दे देते हैं की उनकी बेटियाँ उनकी जिम्मेदारी हैं और वे जीवन भर उनके साथ रहना जारी रखेंगी, इस प्रकार उन्हें एक जीवन साथी खोजने की आवश्यकता से खुद को मुक्त कर लेंगी। हमारे सामाजिक ढांचे में एक लड़की के लिए अपनी शादी के बारे में बातचीत शुरू करना दुर्लभ हैं।

दिव्यांग महिला के लिए यह दोहरी मुश्किल हैं। "माता–पिता को कम ही पता चलता हैं, हो सकता हैं की वे हमेशा के लिए उसका समर्थन करने के लिए आसपास हो" अकसर माता पिता अपने घरों की सुरक्षा को छोड़ने और एक नए व्यक्ति और घर पर मौका लेने की इच्छा को ही जताते हैं। फिर ऐसी महिलाए हैं जो अपने काम या शिक्षा के स्थान पर समान विचारधारा वाले दिव्यांग पुरूषों के समान आती हैं उन्हें अपने लिए जीवन साथी चुनने की आजादी क्यों नहीं कैसे कह सकते हैं समाज की महिला और पुरुषो दोनों एक समान है जहाँ कुछ मामलों में परिवार दिव्यांग महिला को स्वीकार कर रहे हैं, वही कई ऐसे भी हैं जो जाँच करते समय जाती, समुदाय और यहाँ तक की दिव्यांग ता के

आधार पर भी निर्णय पारित करते हैं और उन्हें वैवाहिक जीवन से दूर कर देते हैं। दिव्यांग महिला को बार–बार जूझने की स्थिति में छोड़कर हर कोई अपने जीवन के बारे में सोचने लग जाता हैं की अगर वे पुरुष दिव्यांग महिला से शादी करेंगे तो भी आगे कैसे चला पाएंगे क्या उनका वैवाहिक जीवन सफल होगा और बच्चे कैसे होंगे उनका जीवन कैसा होगा ये सब कुछ सोचते हुए वे अपने कदम पीछे कर लेते है, दिव्यांग महिलाओं को साथ की जरूरत हैं जिससे वो आगे बढ़ सके न की यातना और निराशा की तरफ।

सुझाव: दिव्यांग महिलाओं की आत्मनिर्भरता में समाज, परिवार एवं प्रशासन की भूमिका महत्वपूर्ण हैं। दिव्यांगता कोई अभिशाप नहीं, न कोई सजा हैं, अपनी कमियों को समझकर उस पर विजय पाना ही हर आदमी का लक्ष्य होना चाहिए।

दिव्यांग महिलाओं के प्रति समाज को एवं परिवार को संवेदनशील रहना चाहिए। यही संवेदनशीलता उन्हें आत्मनिर्भर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी। परिवार सम्बन्धी कानूनों में ऐसे बदलाव किए जाएँ जिनसे दिव्यांग महिलाओं का अपने विवाह के बारे में सभी निर्णय लेने का पूरा अधिकार हो। पारिवारिक संबंधो के अनेक रूपों को मान्यता दी जाये, जहाँ दिव्यांग महिलाओं को साथ रहने की भी मान्यता मिले। सार्वजानिक सेवाएं बेहतर बनाई जाये, खासतौर पर जच्चा–बच्चा की देखभाल के लिए, ताकि महिलाओं और लड़कियों को अपनी पसंद के और अधिक फैसले लेने का मौका मिले।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

- Ahuja Ram:Rights of Women – Feminist Perspective
- समाज कल्याण विभाग (2014,15 अगस्त) दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम, 2016 की धारा 84/85 का क्रियान्वयन, उत्तराखंड सरकार https://socialwelfare-uk-gov-in
- पायल कपूर, (2017, 22 दिसम्बर) दिव्यांग महिलाओं के लिए विवाह इतना बोझ क्यों होना चाहिए? feminijm in india https://feminismindia-com
- रघुनाथ, (2017,9 मार्च) महिलाओं की भूमिका परिवार में अहम Hindustan news] https://www-livehindustan-com
- गीतिका मंत्री, (2022, 16 जुन) दिव्यांग महिलाओं, विचित्र व्यक्तियों के लिए अपमानजनक साथियों को छोड़ना क्यो कठिन है? द न्यूज मिनट http://www-thenewsminutin india-Com

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

शिक्षित महिलाओं में बेरोजगारी एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

स्नेहा अग्रहरी
शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग
जगतपुर पी0जी0 कालेज जगतपुर वाराणसी
प्रो0 निलय कुमार
जगतपुर पी0जी0 कालेज जगतपुर वाराणसी

सारांश :

वर्तमान युग में महिलाओं की भारतीय स्थिति का सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक दृष्टि से उनकी भागीदारी से परिलक्षित है कि आज भी महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक संस्थानिक स्थिति संतोषजनक नहीं है।

पुरूष सत्तात्मक समाज में आधी आबादी को कार्य, योग्यता एवं अन्तःवृत्तियों के अनुसार समुचित सम्मान व सन्तोषजनक स्थान जब तक सरकार, समाज व संस्थानों द्वारा न दिया जाएगा तब तक उनका लैंगिक, सामाजिक, शैक्षिक आर्थिक और पारिवारिक व परिवेशीय विषमता का समतलीकरण नहीं हो सकता है।

मौजूदा दौर में बेरोजगारी उन्मूलन के लिए सरकार के द्वारा शहरी एवं ग्रामीण स्तर पर अनेकानेक योजनाओं का क्रियान्यवन व संचालन किया जा रहा है, जिससे देश की आधी आबादी को सशक्त रूप से आत्मनिर्भर बनाया जा सके।

मुख्य शब्द :

शिक्षित बेरोजगार, सशक्तिकरण, महिला शक्ति केन्द्र, आर्थिक संबल।

प्रस्तावना :

शिक्षा ज्ञान, उचित आचरण, तकनीकी दक्षता विधा आदि को प्राप्त करने की प्रक्रिया को कहते है। शिक्षा में ज्ञान, उचित आचरण और तकनीकी दक्षता, शिक्षण और विद्या प्राप्ति आदि समाविष्ट है। इस प्रकार यह कौशल, व्यवसाय, मानसिक, नैतिक एवं सौन्दर्यविषयक उत्कर्ष पर केन्द्रित है।

महिलाओं के लिए शिक्षा स्वयं के व्यक्तित्व निर्माण आत्मनिर्भर, कुशल गृह व समाज संचालन के साथ ही समाज व राष्ट्र के निर्माण में मजबूत आधार स्तम्भ का परिचायक है जो समग्र रूप में निर्माण की कुंजी है। राष्ट्र के निर्माण एवं विकास में स्त्रियों की भूमिका अहम है। स्वामी विवेकानन्द ने नारी को पुरूष के समकक्ष बताते हुए कहा था ''जिस देश में नारी का सम्मान नहीं होता वह देश कभी भी उन्नति नहीं कर सकता''।

हमारे वेदान्त में भी लिखा हुआ है कि सभी प्राणियों में एक समान आत्मा विराजमान है। इस नाते स्त्रियों और पुरूषों में कोई भी भेद संभव नहीं है। किसी भी सभ्य, विकसित और श्रेष्ठ समाज का निर्माण उस देश के शिक्षित नागरिकों द्वारा किया जाता है और स्त्री इस कड़ी का महत्वपूर्ण भाग है। यदि शिक्षित महिला होगी तो वह न केवल अपने परिवार का बल्कि समाज और राष्ट्र के विकास में सहयोग देगी एक शिक्षित महिला है जो समाज में बदलाव ला सकती है।

शिक्षित महिलाओं को बैंक से लेकर सार्वजनिक स्थलों पर कोई भटका नहीं सकता। शिक्षित महिला ही समाज की आधारशिला है। एक पढ़ी–लिखी महिला अपने परिवार को सभ्य और प्रगतिशील बना सकती है। साथ ही साथ समाज एवं देश के विकास में परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से अपने कर्तव्य का निर्वाह करती है।

यदि समाज एवं देश का विकास करना है तो यह तभी संभव है जब महिला शिक्षित होगी। शिक्षित महिला अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहती है जिससे पुरूष सत्तात्मक समाज के उत्पीड़न से यथासम्भव संघर्ष कर स्वयं को समाज व राष्ट्रहित के लिए सशक्त व सबल बना पाती है।

महिलाओं की बेरोजगारी दर पुरूषों के मुकाबले दोगुनी है। यह खुलासा एक अध्ययन में हुआ है। 'जेंडर इक्लूजन इन हायरिंग इंडिया' शीर्षक से यह अध्ययन हार्वर्ड विश्वविद्यालय के दो छात्रों रशल लेवनसन और लायला ओ केन ने किया है। इसके मुताबिक शहरों में काम करने योग्य शिक्षित महिलाओं में से 8.7 प्रतिशत बेरोजगार है जबकि इसकी तुलना में केवल चार प्रतिशत पुरूषों के पास काम नहीं है। अध्ययन में दावा किया गया है ''महिलाओं के फैसले और काम करने की योग्यता को कई कारक प्रभावित करते है। बेरोजगारी दर में लैंगिक अंतर और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के शोध से पता चलता है कि महिलाओं को खासतौर पर अधिक शिक्षित को नौकरी पाने में पुरूषों के मुकाबले अधिक बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

शिक्षित बेरोजगार युवक एवं युवतियों के लिए उनकी शिक्षा बोझ साबित होती है। लोगों को रोजगार की तलाश में अपने घर एवं शहर से पलायन करना पड़ता है। कुंठा, अभाव, असुरक्षा की भावनाओं से ग्रस्त कितने ही युवा सही दिशा पाने के बजाय आपराधिक गतिविधियों का शिकार होते है और इन्हीं कारणों से उनमें मनोग्रस्तता, पराधीनता, स्वास्थ्य चित का स्तर अधिक होता है। लम्बी अवधि से चली आ रही बेरोजगारी के कारण युवक स्वयं की पहचान को धीरे–धीरे खोने लगता है।

आई. एल. ओ. महानिदेशक हुआन सोमविया का कहना है कि लैंगिक असमानता को किसी की नीति का प्रमुख सिद्धान्त बनाया जाना चाहिए। चूंकि आर्थिक संकट का असर सिर्फ महिलाओं पर नहीं समाज की समूची स्थिरता पर पड़ रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के संबंध में जारी बयान में भी सोमविया ने कहा है कि श्रम की दुनिया में स्त्री–पुरूष असमानता लम्बे समय से चिंता का विषय रही है लेकिन आर्थिक संकट के चलते इसके और गहराने की आशंका है। आर्थिक उथल पुथल के दौर में महिलाओं को अक्सर नकारात्मक परिणामों का अधिक सामना करना पड़ता है और फिर उसकी बहाली का लाभ भी उन्हें पुरूषों की तुलना में देर से मिलता है।

शिक्षा के संवैधानिक अधिकार :

भारतीय संविधान में यह प्रावधान है कि महिला एवं पुरूष के साथ समान अधिकार दिया जाएगा। अनु 15(1) कहता है कि राज्य किसी भी नागरिक के साथ धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म के स्थान के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए।

अनु 16(1) एवं (2) सामान्य तौर पर भेदभाव को रोकता है और व्यवसाय में तथा राज्य के अधीन काम करने वाले लोगों के बीच लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव को रोकता है।

अनु 15(3) कहता है कि ''राज्य महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष प्रावधान कर सकता है।''

इस प्रावधान को ध्यान में रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ पदों को महिलाओं के लिए आरक्षित करने को वैध माना है। महिलाओं के लिए कुछ कालेजों में भी पद आरक्षित रखे गये है।

अनु 21(ए) संविधान के 86वें संशोधन एक्ट 2002 के तहत एवं अनु 21(ए) के अनुसार 14 वर्ष के सभी बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राप्त करने का मूलभूत अधिकार है।

कंपनी अधिनियम में 2014 में किए गए संशोधन ने हरेक सूचीबद्ध एवं बड़ी असूचीबद्ध कंपनी के लिए न्यूनतम एक महिला निदेशक को रखना अनिवार्य कर दिया था। भारत में कंपनियों के मुख्य कार्याधिकारियों के रूप में 1.7 फीसदी महिलाएं है। देखने में यह आंकड़ा भले ही छोटा लगे लेकिन महत्वपूर्ण है। भारत में अरूणा राय, अरूंधती राय, मीरा नायर, अपर्णा सेन, दीपा मेहता, रोमिला थापर, इला भट्ट और पहले के दौर में सरोजिनी नायडू अमृता प्रीतम एवं महाश्वेता देवी जैसे नाम प्रभावशाली एवं प्रेरणादायी महिलाओं की लम्बी सूची शामिल है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के कुल अधिकारियों में पांचवां हिस्सा महिलाओं का है। यह अनुपात बेहतर हो सकता था, फिर भी यह न्यायपालिका में महिलाओं की संख्या से बेहतर है। उच्च न्यायालय में हरेक नौ न्यायाधीश में से एक महिला है और उच्च न्यायालय में हरेक नौ न्यायाधीश में से एक महिला है और सर्वोच्च अदालत के कुल 30 न्यायाधीशों में तो सिर्फ एक महिला ही है।

साहित्य पुर्नवालोकन :

नीरा देसाई ने अपनी पुस्तक women in modern India स्त्री को पुरूषात्मक समाज में स्वयं को आत्मनिर्भर बनाना अति आवयश्यक है। एक आत्मनिर्भर स्त्री ही राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में अपना योगदान दे सकती है।

ऊषा ठक्कर ने अपने अध्ययन ने बताया कि अब महिलाओं को भी लगने लगा है कि अब उन्हें पुरूषों के साथ कदम से कदम मिलाकर बाहरी कार्यक्षेत्र में भी हस्तक्षेप करना चाहिए जिससे वह घर की चार दिवारों से निकलकर अपनी पहचान बना सकें।

श्यामाचरण दूबे ने 1963 में मेन्स एण्ड वूमेन्स रोल इण्डिया में आर्थिक और व्यवसायिक व्यवस्था में आधुनिक शिक्षा ने किस प्रकार महिलाओं को प्रभावित किया है एवं परम्परागत दृष्टिकोण में परिवर्तन का कारण बताया हैं।

कमलनाथ 1968 वूमेन इन द वर्किंग कोर्स इन इण्डिया इकानॉमी एण्ड पालिटिकल वीकली में भारत में ग्रामीण महिलाओं एवं शहरी महिलाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है एवं बताया है कि ग्रामीण महिलाओं की श्रम सहभागिता नगरीय महिलाओं की तुलना में अधिक है।

दीपा माथुर 1994 वूमेन फेमिली एण्ड वर्क में गृहणी महिलाओं एवं कामकाजी महिलाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया एवं विवाह के पश्चात् महिलाओं में भूमिका संघर्ष एवं सामाजिक चुनौतियों का अध्ययन किया।

ओर्डेन और ब्राडबर्न (1968) के अनुसार मध्यमवर्ग की महिलाएं अपने पारिवारिक जीवन स्तर को उंचा बनाये रखने के लिए कार्य करती है जबकि निम्न वर्ग की महिलाएं अपने परिवार की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कार्य करती है। महिलाओं के श्रम बाजार में आने के अनेकानेक महत्वपूर्ण कारण है यथा महिलाओं की शिक्षा, पति का शिक्षित होना परिवार का आकार तथा परिवार का समाज में एक दर्जा का होना।

ओर्डेन और ब्राडबर्न के अनुसार कम पढ़ी–लिखी महिलाएं जब श्रम बाजार में आती है तो पति और पत्नी के बीच तनाव पैदा हो जाता है जो उनके पारिवारिक जीवन को कटु बना देता है। मध्यम वर्ग में यदि बच्चे छोटे है और माँ श्रम बाजार में जाती है तो पारिवारिक जीवन कलहमय हो जाता है, क्योंकि माँ की अनुपस्थिति में बच्चों की देखरेख नहीं हो पाती है। परिवार के बाहर धन के लिए कार्य करने की प्रेरणा पति पत्नी के सम्बन्धों में कटुता पैदा करती है।

हैवमेन एवं वेस्ट (1978) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह पता लगाया कि कामकाजी महिलाओं में तलाक की दर गैर कामकाजी महिलाओं की तुलना में ऊँची है।

सेकर और स्मिथ (1982) ने अपने अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष ज्ञापित किया कि महिलाओं के व्यवसाय में संलग्न होने से विचारित जीवन को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

पूल कूहन (1971) के अनुसार सामाजिक स्थिति, वैवाहिक स्थिति और बच्चों का होना महिलाओं के कार्य करने के प्रमुख तत्व है। ऊँचे वेतन पाने वाले पुरूष की ग्रेजुएट पत्नियां यह तर्क देती है कि उनका कार्य करना एक मानसिक संतोष का कारण है। एक शिक्षित महिला अपने पति और बच्चों के प्रति बंधनों और कर्तव्यों का भली प्रकार पालन करती है। पढ़ी–लिखी महिलाओं को यदि घरेलू कार्य तक ही सीमित रखा जाता है तो उनकी विद्वत प्रतिभा समाप्त हो जाती है।

आज के बदले हुए दृष्टिकोण में महिलाओं में उच्च शिक्षा प्राप्त कर कार्य करने की भावना प्रबल होती जा रही है जबकि पारम्परिक मान्यताओं के अनुसार पति परिवार के बहारी कार्यों के लिए उत्तरदायी है और पत्नी परिवार के आन्तरिक मामलों के लिए उत्तरदायी मानी जाती है।

तकनीकि शिक्षा पर जोर :

गांव के वातावरण के कारण ज्यादातर महिलाएं कृषि कार्य करती है जबकि शहर में महिलाएं घर की साफ सफाई का काम या छोटे मोटे व्यापार में संलग्न रहती है। कुछ वर्षों के अध्ययन के फलस्वरूप यह पता चला है कि महिलाओं की शैक्षिक योग्यता एवं उन्हें मिलने वाले तनख्वाह में नकारात्मक संबंध पाया गया है। उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाएं ऐसा ही कार्य करना चाहती है जो उनके शैक्षिक योग्यता के अनुरूप हो। जिससे यह भी ज्ञात होता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाएं अपनी शैक्षिक योग्यता से निम्न स्तर का वैतनिक कार्य नहीं करना चाहती है।

एक अंदाज के अनुसार यह ज्ञात होता है कि 25 से 29 वर्ष की महिलाएं किसान, मजदूर और घरेलू काम–काज के पद पर कार्यरत है। इसके अलावा 33 प्रतिशत महिलाएं ऐसी है जो अपने शिक्षा के अनुरूप किसी कार्यक्षेत्र में कार्यरत है।

सरकार के द्वारा महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए योजनाएं :

भारत में महिलाओं के लिए प्रसिद्ध सरकारी योजनाओं में से एक है 'महिला शक्ति केन्द्र'। इसे महिलाओं को कौशल विकसित करने, नौकरी के अवसर खोजने और उनकी डिजिटल साक्षरता में सुधार करने में मदद करने के लिए व्यापक सहायता सेवा प्रदान करने के लिए डिजाइन किया गया है।

महिलाओं के लिए रोजगार योजनाए :

उद्योगिनी योजना के तहत कोई भी महिला अपना बिजनेस शुरू करने के लिए 30000/– रूपये की आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकती है। महिलाओं को अपना बिजनेस शुरू करने के लिए राज्य सरकार की तरफ से प्रोत्साहित किया जा रहा है। इस योजना के जरिए 300000/– रूपये तक का लोन प्रदान किया जाता है जो कि बिना किसी ब्याज दर के दिया जाता है। जिससे महिलाएं आर्थिक सबल बन सकें।

शहरी क्षेत्र में शिक्षित महिलाओं में बेरोजगारी :

टाइम्स आफ इण्डिया की एक रिपोर्ट के मुताबिक शिक्षित और अशिक्षित बेरोजगारों के बीच का यह फासला शहरी महिलाओं के बीच तो और भी ज्यादा था। 2017–18 में 0.8 प्रतिशत अशिक्षित शहरी महिलाएं बेरोजगार थी। वहीं 20 प्रतिशत शिक्षित शहरी महिलाएं बेरोजगार थी।

ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षित महिलाओं में बेरोजगारी :

ग्रामीण महिलाओं में विशेषकर युवतियों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की लगन स्पष्टतः दिखायी देती है, परन्तु फिर भी समय–2 पर देखने को मिलता है कि भले ही ग्रामीण महिलाएं उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हो लेकिन समाज के नियमों का दबाव निरन्तर इन पर बना रहता है तथा उच्च शिक्षा हासिल कर लेने के बाद भी उन पर समाज के नियमों का परम्परागत रूप से पालन करना अनिवार्य समझा जाता है जिससे वह न चाहते हुए भी बेरोजगारी का सामना करती है।

बेरोजगारी को दूर करने के लिए सुझाये गये उपाय :

- जनसंख्या में कमी करना।
- शिक्षा की योग्यता के आधार पर नौकरी।
- नौकरियों में अधिकतर अवसर प्रदान करने की आवश्यकता।

निष्कर्ष एवं सुझाव :

इस अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बेरोजगार शिक्षित महिलाएं संघर्ष की अवस्था से गुजर रही है। कुछ स्तरों पर रूढ़िवादिता से ग्रस्त है जबकि कुछ बिन्दुओं पर यह दर्शाता है कि आधुनिक युग में वे सक्षम बनने तथा आत्मनिर्भर बनने के लिए तत्पर है।

बेरोजगारी की इस विकट समस्या को दूर करने के लिए सरकार को कुछ प्रभावशाली प्रयास करने होंगे जिससे इस समस्या का निवारण किया जा सके। साथ ही रोजगार के अवसरों पर सृजन करना होगा।

बढ़ती जनसंख्या की समस्या को इसका उत्तरदायी माना गया है। अतः जनसंख्या वृद्धि को रोकना भी आवश्यक है। रूढ़िवादिता की समाप्ति, कार्यक्षेत्र में अनुकूल वातावरण, भेदभावरहित वातावरण, साथ ही सरकार द्वारा महिलाओं के लिए समुचित रोजगार के अवसरों को उपलब्ध कराने की आवश्यकता है।

संदर्भ–

- शर्मा डॉ0 एम0के0 (2010) ''भारतीय समाज में नारी पब्लिशिंग हाउस दिल्ली।
- देसाई नीरा, ठक्कर ऊषा (2009) ''भारतीय समाज में महिलाएं'' राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली।
- शर्मा श्रीमती नीलमणि (2010) ''आधे भारत का संघर्ष'' संजीव प्रकाशन नई दिल्ली।
- जोशी उमा (1994) ''कामकाजी महिलाएं व घरेलू निर्णय'' समाज कल्याण।
- ठाकुर देवेन्द्र ठाकुर डी0 एल0 (1977) ''उच्च शिक्षा और रोजगार'' दीप और दीप प्रकाशन, नई दिल्ली।
- www.the wire.com
- http://nav bharattimes.indiatimes.com
- https://hindi Business Standard.com

———0———

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

एकात्म मानववाद एवं समाज कार्य : वर्तमान संदर्भ

प्रो.बंशीधर पाण्डेय
निदेशक, वर्धा समाज कार्य संस्थान
म.गां अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,वर्धा,महाराष्ट्र
डॉ. राहुल गुप्ता
एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
म.गां. काशी विद्यापीठ,वाराणसी

सारांशिका–
भारतीय राजनीति में राष्ट्रवादी विचारक, कुशल संगठन कर्ता, प्रखर वक्ता, दार्शनिक, चिन्तक, अर्थवेत्ता, निपुण राजनेता के रुप में पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का नाम बहुत ही श्रद्धा से लिया जाता है। पंड़ित जी मूल्य आधारित राजनीति करते हुए भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में एक बड़े नेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। पंड़ित जी को एक ऐसे प्रभावशाली राजनेता के रूप में जाना जाता हैं जिन्होने राष्ट्रहित और राष्ट्रविकास को सर्वोपरि मानते हुए स्वयं के लिए उपलब्ध समस्त भौतिक सुख–सुविधाओं, पद, परिवार एवं निजता का परित्याग कर दिया तथा अपना सम्पूण जीवन राष्ट्र के नाम समर्पित कर दिया। आपने अपना पूरा जीवन राष्ट्र को समर्पित करते हुए संपूर्ण समाज के लिए समता, समानता एवं सर्वोदय पर आधारित जीवन जीने का एक नया विचार दिया। इसके लिए पंड़ित जी ने जिस जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया उसे एकात्म मानव दर्शन के नाम से जाना जाता हैं। प्रस्तुत प्रपत्र में पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के दर्शन एकात्म मानववाद एंव समाजविज्ञान की एक शाखा समाजकार्य में इसके अनुप्रयोग पर प्रकाश डाला गया है। इस हेतु द्वितियक सामग्रियों का प्रयोग किया गया है।
बीज शब्द: एकात्म मानववाद,दर्शन, समता,समानता इत्यादि।

'एकात्म मानव दर्शन' या 'एकात्म मानववाद' की अवधारणा का अनूठा सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले पंडित दीन दयाल उपाध्याय जी एक विश्व दृष्टा महापुरुष थे। अपने संक्षिप्त जीवनकाल के दौरान इन्होंने राजनीतिक क्षेत्र, दार्शनिक क्षेत्र, पत्रकारिता एवं लेखन क्षेत्र इत्यादि में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। यह एक तरह का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दर्शन है, जो 'भारतीय दृष्टिकोण' का उपयोग करके दुनिया की समस्याओं का समाधान देता है। एकात्म मानववाद के इस वैचारिक दर्शन का प्रतिपादन पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने मुंबई में 22 से 25 अप्रैल,1965 में चार अध्यायों में दिए गए उद्बोधन में किया।

एकात्मवाद की अवधारणा भारतीय संस्कृति में विद्यमान रही है और पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने इसीलिए भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन करके समता, समानता व सर्वोदय पर आधारित एक समाज की कल्पना किया तथा जीवन जीने के एक नए मार्ग की चर्चा की। उनके मौलिक चिंतन में सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक व राजनीति के सिद्धांतों का समावेश था, जिसे उन्होंने राष्ट्र के समक्ष एक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया। उनके इन्हीं मानवीयता मूलक सिद्धांतों को 'एकात्म मानव दर्शन' के रूप में जाना जाता है जो संपूर्ण विश्व को उनकी एक विशिष्ट देन हैं। पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रणीत एकात्म मानव दर्शन का उद्देश्य भयमुक्त, समतामूलक, लोकतांत्रिक व मानवीयता परक समाज की रचना करना था ।

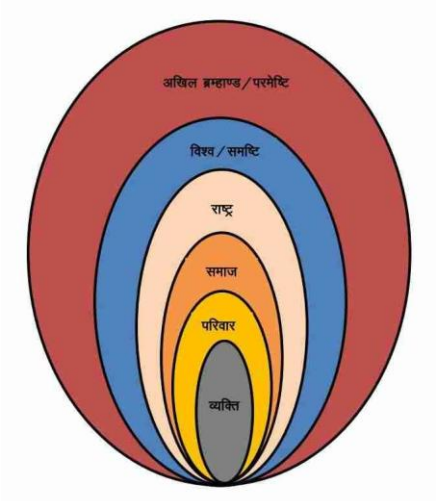

एकात्मवाद एक ऐसी अवधारणा है जिसे सर्पिलाकर मंडल आकृति द्वारा समझा जा सकता है। यदि हम इस आकृति को देखें तो इसके केंद्र में व्यक्ति तत्पश्चात क्रमशः परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व और अंत में अनंत ब्रह्मांड समाविष्ट है। इस आकृति से स्पष्ट होता है कि एक से जुड़कर ही दूसरे का विकास संभव हो पाएगा एवं इस हेतु समस्त व्यवस्थाओं के केंद्र में मनुष्य अर्थात व्यक्ति ही होना चाहिए। इस प्रकार पंडित जी के द्वारा एकात्मवादी दर्शन में व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के मध्य संतुलित समन्वय की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। पंडित जी के अनुसार, "मनुष्य मन, बुद्धि, आत्मा तथा शरीर का समुच्चय है। अतः हम इसको टुकड़ों में बॉटकर विचार नहीं कर सकते हैं।"

मानव की इसी समग्रता या पूर्णता के कारण ही वह समाज के लिए उपयुक्त या उपादेय हो जाता है। इस प्रकार समग्र रूप में देखें तो भारतीय मनीषा में अंतर्निहित चार पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की अवधारणा भी एकात्म मानव दर्शन में परीक्षित होती है, क्योंकि इन चारों पुरुषार्थों में एकात्मकता के बिना मनुष्य कर्मठ या उद्यमी नहीं हो सकता है तथा उसके कर्मठी हुए बिना समाज का विकास, कल्याण व हित संवर्द्धन संभव नहीं हो सकता है। इसी संदर्भ में प्रख्यात विचारक व समाजसेवी भारत रत्न नानाजी देशमुख का कथन सही प्रतीत होता है कि, "एकात्म मानव दर्शन भारतीय जीवन दर्शन का ही नया नामकरण माना जा सकता है। भारतीय जीवन दर्शन मानव– मानव में भेद नहीं करता है, अन्यथा चराचर में आत्म तत्व अनुभव करने की संभावना ही नहीं होती। वह हर एक नागरिक को मानव मानकर ही व्यवहार करता है। किसी से भी उसकी उपासना पद्धति, भाषा, क्षेत्रीयता, जातीयता, उॅच–नीच के आधार पर भेदभाव को अमानवीय मानता है।

वर्तमान समय में जब संपूर्ण विश्व निर्धनता, बेरोजगारी, वितरण की असमानता जैसे आर्थिक समस्याओं से जूझ रहा है और संघर्ष, वैमनस्यता, आतंकवाद, वर्गवाद, जातिवाद आदि सामाजिक समस्याओं एवं प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध उपभोग व भौतिकतावाद से ग्रस्त है। विश्व भर में इन समस्याओं के समुचित समाधान हेतु विकास के कई मॉडल अपने गए परंतु आशातीत परिणाम प्राप्त नहीं हो सका है। ऐसी स्थिति में एक ऐसे दर्शन या मॉडल की जरूरत है जो एकीकृत भी हो और संपोषीय (Sustainable) भी। एकात्म मानववाद इस कसौटी पर बिल्कुल खरा उतरता है क्योंकि इसकी प्रकृति एकीकृत एवं संपोषीय है। यह दर्शन एक ओर जहां व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकता को संतुलित करते हुए प्रत्येक मानव के गरिमा पूर्ण जीवन को सुनिश्चित करती है वहीं दूसरी ओर यह प्राकृतिक संसाधनों के संपोषीय उपभोग का भी समर्थन करती हैं जिससे उन संसाधनों की पुनः पूर्ति की जा सके।

इस दर्शन के द्वारा 'अंत्योदय' अर्थात समाज के अंतिम पायदान पर स्थित व्यक्ति के जीवन में अपेक्षित सुधार लाने की प्रतिबद्धता भी परिलक्षित होती है। इस दर्शन के प्रतिपादक पंडित दीनदयाल

उपाध्याय जी अक्सर कहा करते थे कि, "दो धोती, दो कुर्ते और दो वक्त का भोजन ही मेरी संपूर्ण आवश्यकता है। इससे अधिक मुझे क्या चाहिए?" इस वाक्य के द्वारा ही दीनदयाल जी के एकात्मवाद एवं अंत्योदय के मूल मंत्र और दर्शन को आसानी से समझा जा सकता है। अंत्योदय शब्द न होकर एक विचार है जिसमें संवेदना, सहानुभूति, प्रेरणा व साधना सभी समाहित हैं।

एकात्म मानववाद दर्शन 'लोकतंत्र' और 'स्वतंत्रता' जैसे शब्दों को राजनीतिक अर्थो की संकीर्णता से बाहर निकालने का यत्न करता है तथा उसे सामाजिक व आर्थिक रूप में समझने व समझाने का कार्य करता है। इसीलिए यह भारत व अन्य विकासशील देशों के लिए एक आदर्श मॉडल सिद्ध हो रहा है। यह मॉडल भारत के सांस्कृतिक लोकाचार के अनुरूप ही उसके विकास पर बल देता है तथा ऐसा करते हुए यह विकास के एक एकीकृत और टिकाऊ रोड मैप की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। इसी संदर्भ में पंडित दीनदयाल जी के विचार थे कि भारत एक ऐसा राष्ट्र होना चाहिए जिसमें अपने निवासियों की रक्षा करने की शक्ति हो, जिसमें अपने नागरिकों के भोजन की आवश्यकता की पूर्ति करने हेतु पर्याप्त उपज हो, राष्ट्र को प्रकृति से उतना ही लेना चाहिए जितना वह पुनः प्राप्त कर सकता है तथा राष्ट्र के पास पर्याप्त धन हो और उसका समान रूप से वितरण हो।

सार रूप में यह कहना उचित होगा कि विश्व में मानव मात्र के लिए यदि किसी एक विचार दर्शन ने समग्र चिंतन प्रस्तुत किया है तो वह एकात्म मानववाद ही है। भारत जैसे विविधता पूर्ण राष्ट्र में भारतीयता के अनुरुप व व्यावहारिक एकात्म मानववाद दर्शन ही उपयुक्त भी है और कारगर भी। सवाल चाहे आर्थिक हो या सामाजिक या राजनीतिक, इस सिद्धांत में सभी का विवेचनापूर्वक व समाधानयुक्त उत्तर प्राप्त होता है।

अतः समाज विज्ञान की दृष्टि से एकात्म मानववाद एक ऐसा मॉडल है जो सभी समस्याओं के समाधान हेतु एक दिशा निर्देश प्रस्तुत करता है। इसलिए भारतीय समाज कार्य को भी पंडित दीनदयाल उपाध्याय के इस दर्शन से उचित मार्गदर्शन व दिशा प्राप्त हो रही है। समाज कार्य के विभिन्न प्रणालियों में एकात्म मानववाद के विचारों के सम्मिलन की पर्याप्त संभावनाएं हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची:

1- नेने, विनायक वासुदेव,(1990), पं0 दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड–2 एकात्म मानवदर्शन, सुरूचि प्रकाशन नई दिल्ली।
2- ठेंगड़ी, दत्तोपंत बापूराव (1988) पंडित दीनदयाल उपाध्यायः एक जांच, परिचयात्मक भाग, सुरुचि प्रकाशन नई दिल्ली।
3- देशमुख,नानाजी, नानाजी की पाती युवाओं के नाम,पृष्ठ सं.41।
4- Trivedi, Preeti (2017) Architect of A Philosophy, Bhartiya Sahitya.
5- https://vskbharat.com- एकात्म मानववाद दर्शन–पं0 दीनदयाल उपाध्याय।

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

आधुनिक स्त्रियाँ : मुक्ति के प्रश्न और प्रेमचन्द

संदीप कुमार कश्यप
शोध छात्र, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषा विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
9598605440

सारांश

प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में आधुनिक स्त्रियों की उपस्थिति को भी स्थान दिया है। गोदान उपन्यास में मिल मालती हैं जो इंग्लैंड से डाक्टरी पढ़कर आई हैं और अब प्रैक्टिस करती है। बड़े–बड़े ताल्लुकेदारों के महलों में उनका प्रवेश है। वे नये युग की महिला हैं। लेखक ने मालती की चंचला, मेकअप वाली महिला, बेझिझल स्वभाव वाली, आमोद–प्रमोद को जीवन का तत्व मानने वाली, पुरुष मनोविज्ञान की जानकर, दूसरों को लुभाने–रिझाने की कला में निपुण आदि विशेषताओं से युक्त करके चित्रित किया है। पुरुष वर्ग यदि मालती को अपने विलास का खिलौना समझता है तो मालती पुरुष वर्ग को अपने आगे–पीछे नचाती है। प्रेमचन्द ने मिस मेहता को एक आधुनिक नारी के रूप में चित्रित किया है और उसी रूप में उसकी मुक्ति की व्यवस्था करते हुए नजर आते है। लेखक ने ऐसी नारी की मुक्ति के लिए जो मार्ग दिखाया है, वह ध्यान देने योग्य है। पुरुषों की कमजोरियों का फायदा उठाकर मालती मनोवांछित जिन्दगी जीना चाहती है। यही उनका लक्ष्य है। पुरुष वर्ग उनका कृपा चाहता है। मिल मालिक खन्ना तो उनके उपासक ही है। परिस्थितियों ने मालती को अपने दवा से जिन्दगी को समझना और जीना सिखाया है। वे अपने आकर्षण–पाश में पुरुषों को फँसाये रखती है, किंतु पुरुषों की जाल में फँसती नहीं।

बीज शब्द : बौद्धिक प्रतिभा, आधुनिक नारी, सुकीर्ति, प्रगतिशील स्वदेशानुरागी, फावर्ड युवतियाँ, मानसिक परेशानी।

यह मिस मालती जैसी आधुनिक नारियों की मुक्ति का रहस्य और यह रहस्य ही इनकी मुक्ति का मार्ग है। से भरी गाँव के धनुष–यज्ञ में मालती और मि0 मेहता आमना–सामना होता है और दोनों एक–दूसरे को देखते–परखते हैं। शिकार के प्रसंग में मालती मि0 मेहता के काफी करीब आती है और दोनों एक दूसरे को चाहते–परखते हैं, साथ ही आकर्षित भी होते हैं। दोनों में निकटता बढ़ती है। मि0 मेहता के अनेक विचारों से प्रेम, विवाह, नारी–मुक्ति आदि से मतान्तर रखती हुई भी मिस मलती उनके खुलेपन और उनकी बौद्धिक प्रतिभा से प्रभावित होती है। मालती मि0 मेहता से विवाह सम्बन्ध बनाना तो चाहती है, किन्तु बना नहीं पाती है। मालती मि0 मेहता से कहती है कि ''मुझे तुम्हारे साथ रहना पड़े, तो एक दिन न पटे। मेहता मुसकराये। इन शब्दों का संकेत खूब समझ रहे था। 'तुम मुझे इतना दुष्ट समझाती हो। और जो कहूँ कि मैं तुम से प्रेम करता हूँ, मुझसे विवाह करोगी? ''ऐसे काठ कठोर से कौन विवाह करेगा! रातदिन जलाकर मार डालोगे।' और मधुर नेत्रों से देखा, मानो कह रही हो– इसका आशय तुम खूब समझते हो। इतने बुद्धू नहीं हो। मेहता ने जैसे सचेत होकर कहा– तुम सच कहती हो, मालती। मैं किसी रमजी को प्रसन्न नहीं रख सकता। मुझसे कोई स्त्री प्रेम का स्वांग नहीं कर सकती। मैं उसके अंतस्तल तक पहुँच जाऊँगा। फिर मुझे उस से अरूचि हो जाएगी। मालती कांप उठी। इन शब्दों में कितना सत्य थ।''[1]

मिस मालती एक आधुनिक नारी के रूप में गोदान में चित्रित हुई है। जहाँ मेहता और मातली में विवाह की बाते होती है। किन्तु अंततः विवाह नहीं हो पाता है। मिस मालती मेहता को विवाह के बन्धन में न बाँधकर मित्रवत सम्बन्ध में सदा–सदा के लिए बँधने का प्रस्ताव करती है। वह मेहता के पीछे–पीछे चलने का वचन देती है। मेहता भी मालती के आदेश को स्वीकार कर लेते हैं। मिस मालती

कहती है– ''अंत में मैंने तय किया है कि मित्र बन कर रहना स्त्री पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझसे प्रेम करते हो, मुझ पर विश्वास करते हो, और मुझे भरोसा है कि आज अवसर आ पड़े तो तुम मेरी रक्षा प्राणों से करोगे। तुम में मैं ने अपना पथ प्रदर्शन ही नहीं, अपना रक्षक भी पाया है। मैं भी तुमसे प्रेम करती हूँ, तुम पर विश्वास करती हूँ, और तुम्हारे लिए कोई ऐसा त्याग नहीं है, जो मैं न कर सकूँ।''[2] मालती मि0 मेहता की जिन्दगी को गृहस्थी के छोटे–से पिंजड़े में बंद नहीं करना चाहती। मालती आगे कहती हैं– ''अपनी विद्या और बुद्धि को, अपनी जागी हुई मानवता को और भी उत्साह और जोर के साथ उसी रास्ते पर ले जाओ। मैं भी तुम्हारे पीछे–पीछे चलूँगी। अपने जीवन के साथ मेरा जीवन भी सार्थक कर दो। मेरा तुमसे यही आग्रह है।''..... ''मेहता की आँखों में मधुरा बाल स्मृतियाँ सजीव हो उठीं, जब वह अपनी विधवा माता की गोद में बैठकर महान सुख का अनुभव किया करते थे। कहाँ है वह माता, आए और देखे अपने बालक की इस सुकीर्ति को। मुझे आशीर्वाद दो। तुम्हारा वह जिद्दी बालक आज एक नया जन्म ले रहा है। उन्होंने मालती के चरण दोनों हाथों में पकड़ लिए और काँपते हुए स्वर में बोले– तुम्हारा आदेश स्वीकार है मालती! और दोनों एकान्त होकर प्रगाढ़ आलिंगन में बँध गए। दोनों की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थीं।''[3] यह आधुनिक नारी मालती की मुक्ति की प्रक्रिया है जिसे प्रेमचन्द ने यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। लेखक ने विवाह के बन्धन को मालती के लिए आवश्यक नहीं बताया है। मेहता से विवाह करना चाहकर भी मिस मालती मित्र बन कर रह जाती है। यह आधुनिक स्त्री मिस मालती की मुक्ति है।

रंगभूमि उपन्यास में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त है। रंगभूमि नाम में ही उपन्यास का दृष्टिकोण छिपा हुआ है। लेखक ने चित्रित किया है कि जीवन क्रीड़ा–क्षेत्र है अर्थात् रंगभूमि है। हर व्यक्ति खेल खेलने आया है। इस उपन्यास में विनय और सोफी के प्रेम के माध्यम से धार्मिक स्वतंत्रता विजय कराई गई है। दोनों के धर्म की परंपरा अलग–अलग है, फिर भी दोनों आधुनिक विचारों के पोषक प्रतीत होते हैं। सोफी ने विनय का चुनाव किया, यह प्रगतिशील विचार है और आधुनिक नारी की मुक्ति के रूप में सोफी को प्रस्तुत किया जा सकता है। दोनों का प्रेम वासना पर आधारित नहीं है, विनय स्वदेशानुरागी है, फिर भी सोफी अपना प्रेम विनय के आगे समर्पित कर देती है। यह आधुनिक स्त्री का स्वतंत्र प्रेम है।

प्रेमचन्द अपनी कहानियों में भी यदा–कदा आधुनिक मनोवृत्ति को दिखाया है। 'मनोवृत्ति' नामक कहानी में एक नवयुवती की मानसिकता का चित्रण किया गया है। लेखक ने लिखा है–''एक सुन्दर युवती, प्रातःकाल, गाँधी पार्क में बिल्लौर के बेंच पर गहरी नींद में सोई पाई जाय, यह चौका देने वाली बात है। सुंखीयाँ पार्कों में हवा खाने आती हैं, हँसती है, दौंडती है, फूल–पौधों से खेलती है, किसी का इधर ध्यान नहीं जाता, लेकिन कोई युवती रविश के किनारे वाले बेंच पर बेखबर सोये, यह बिल्कूल गैर मामूली बात है, अपनी ओर बल–पूर्वक आकर्षित करने वाली। रविश पर कितने आदमी चहलकदमी कर रहे है, बूढ़े भी, जवान भी, सभी एक क्षण के लिए वहाँ ठिठक जाते हैं, एक नजर वह दृश्य देखते हैं और तब चले जाते है। युवकवृन्द रहस्य भाव से मुसकिराते हुए, वृद्धजन चिन्ताभाव से सिर हिलाते हुए और युवतियाँ लज्जा से आँखें नीचे किये हुए।''[4] इस प्रकार अनेक अवस्था वर्ग के लोग उस युवती के पास से गुजरते हैं, युवक और युवतियाँ गुजरती हैं और सभी उस युवती को देखकर अपनी टिप्पणी करते हैं। कोई उसे वेश्या कहता है, कोई कुलवधू कहता है। कोई कहता है कि वेश्या भी इस तरह बेशर्मी से नहीं सोती है। कोई–कोई कहता है कि रूप–छवि दिखाने का यह नया आर्ट है। कोई कहता है कि 'नई आजादी है, नया नशा हैं।' 'आजकल की युवतियाँ भी तो फार्वर्ड होने लगी है।' 'फार्वर्ड युवतियाँ युवकों से आँखें नहीं चुराती।' इस प्रकार आते–जाते लोग उस युवती को देखते हैं। मीनू नाम की एक युवती उसे हाथ पकड़कर हिलाती है और पूछती है कि यहाँ सो रही हो देवी जी? उठो घर जाओ युवती उठकर कहती है कि सिर से चक्कर आ जाया करता है, इसलिए ठंड़ी हवा में लाभ लेने के लिए बेंच पर बैठ गई, फिर मुझे होश नहीं रहता दवा से कोई लाभ न हुआ। वह युवती बताती है कि

डाक्टर श्यामनाथ हमारे ससुर हैं। मीनू बतलाती है कि वे तो अभी यही से गए हैं। किन्तु वे पहचान नहीं सकते, क्योंकि मेरा अभी गौना नहीं हुआ है। वह युवती श्यामनाथ के बेटे बसन्त लाल की धर्मपत्नी है। मीनू ने हँसकर कहा कि वे भी तो अभी इधर से गए हैं, मेरा उनसे युनिवर्सीटी का परिचय है। इस प्रकार मीनू और युवती में बातचीत होती है–

''अच्छा, लेकिन मुझे उन्होंने देखा कहाँ है? तो मैं दौड़कर डाक्टर को खबर दे दूँ। जी नहीं, मैं थोड़ी देर में बिल्कुल अच्छी हो जाऊँगी। बसन्तलाल भी वह खडा है, उसे बुला दूँ। जी नहीं, किसी को न बुलाइए। तो चलो, अपने मोटर पर तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा दूँ। आपकी बड़ी कृपा होगी।

किस मुहल्ले में?

बेगमगंज, मि0 जयरामदास के घर।

मैं आज ही मि0 बसन्तलाल से कहूँगी।

मैं क्या जानती थी कि वह इस पार्क में आते हैं। मगर कोई आदमी तो साथ ले लिया होता?

किसलिए? कोई जरूरत न थी।''[5]

इस कहानी में आम आदमी की मनोवृत्ति के माध्यम से एक आधुनिक युवती की मनोवृत्ति को समझने–समझाने की उपक्रम लेखक ने किया है। वह युवती नजदीक की ही है, विवाहिता है, उसके ससुर भी उसके पास से गुजरे हैं, उसके पति ने भी उसे देखा होगा, किन्तु किसी ने किसी को पहचाना नहीं होगा, क्योंकि उस युवती का अभी गौना नहीं हुआ है। मानसिक परेशानी के कारण वह पार्क में हवा खाने आई है, जहाँ उसके पति एवं ससुर देखकर भी जान नहीं पाते। उस युवती को भी यह ध्यान में नहीं है कि उसकी ससुराल के लोग देख लेगें। सामान्य लोगों की मनोवृत्ति के बहाने लेखन ने तथाकथित आधुनिक युवती की मुक्ति की कामना की है अथवा उस युवती को मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। नारियाँ जब विधवा हो जाती हैं तब जीवन दुखमय हो जाता है। आधुनिक विचारधारा की दृष्टि से विधवा विवाह को न्यायसंगत बनाया गया है। पुरुष विधुर होने पर दूसरा विवाह करता है तो नारी भी विधवा होने पर दूसरा विवाह कर सकती है। स्वयं प्रेमचन्द ने विधवा शिवरानी देवी से विवाह किया था। अपने कथा साहित्य में लेखक ने प्रायः विधवा विवाह का समर्थन किया है और विधवा विवाह कराया है। उनके अनेक उपन्यासों और कहानियों में विधवा विवाह हुए हैं। लेखक ने उसे न्यायसंगत ठहराया है। आधुनिक विचारों से मुक्त नारियों ने विवाह किया है और इस प्रकार ऐसी नारियों की मुक्ति हुई है। प्रतिज्ञा उपन्यास में 'वनिता विधवा आश्रम' बना है जिसमें अमृतराय और पूर्णा साथ–साथ काम करते हैं। अमृतराय विधुर है तो पूर्णा विधवा है! दोनों एक–दूसरे को चाहते हैं। एक दिन अमृतराय साड़ियाँ और श्रृंगार–सामग्री पूर्णा को भेंट करते हैं और अंततः विवाह भी करते हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं– ''पुरुष जब वृद्धावस्था में पत्नी की मृत्यु होने पर विवाह रचा लेता है और युवा बनने का स्वाँग रच सकता है तो विधवा होने मात्र से ही युवती नारी की समस्त आकांक्षाएँ जलकर भस्म हो जाएगी, यह आशा कैसे की जा सकती है।''[6]

सभागी नामक कहानी में आधुनिक स्त्री का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। तुलसी महतो की बेटी बाल विधवा हो जाती है। वह अपने कर्मठ व्यवहार से अपने पिता की मृत्यु के बाद माँ की सेवा करती है। सुभागी का भाई रामू अपनी पत्नी के साथ अलग रहता है। एक दिन माँ भी गुजर जाती है तो सुभागी बाबू सज्जन सिंह से कर्ज लेकर माँ की तेरही करती है और बाद में चलकर धीरे–धीरे कर्ज भी उतार देती है। सज्जन सिंह सुभागी के व्यवहार से प्रसन्न होकर उसे अपनी बहू बनाते हैं, जबकि यह विजातीय विवाह है। लेखक ने विजातीय विधवा विवाह कराके आधुनिकता का परिचय दिया है। आधुनिक विचार की नारी ही गैर जाति में विवाह कर सकती है, परंपरावादी रूढ़िग्रस्त नारी ऐसा नहीं कर सकती। आधुनिक नारी के रूप में यह सुभागी की मुक्ति की कहानी है। इसी प्रकार अन्य कहानियों में भी प्रेमचन्द में विधवा विवाह का समर्थन किया है और विधवा विवाह कराया है। सुभागी नामक कहानी में तो जाति–पात का भी बन्धन टूटा है और सुभागी का विवाह सवर्ण युवक से होता है। यह

सम्बन्ध आधुनिक विचारधारा के ओत–प्रोत है। यह बात दूसरी है कि सुभागी आधुनिक नारी के रूप में चित्रित नहीं है, फिर भी वह आधुनिक नारी की तरह जातिभेद का अतिक्रमण की जाती है। सुभागी कहानी की तरह स्वामिनी कहानी भी आधुनिक वैचारिकी से युक्त है। यह गँवई परिवेश में नारी–जीवन की बिडंवनाओं–विवशताओं का एक आख्यात है। शिवदास की बड़ी बहू रामप्यारी असमय में ही विधवा हो जाती है। शिवदास की दूसरी बहू दुलारी अपने पति मथुरा और बच्चों के साथ परदेश चली जाती है। समूचे घर में अब अकेली ही रामप्यारी ही है जो खेत–खलिहान सब देखती है। घर का पुराना नौकर जोखू साथ में है। यद्यपि जोखू पहले आलसी था, किन्तु अब जिम्मेदारी के साथ रामप्यारी का साथ देता है, सारा काम देखता है एक दिन रामप्यारी उससे ठठोली करती है कि वह अपनी सगाई क्यों नहीं कर लेता? जोखू कहता है कि ''मैं ऐसी मेहरिया लेकर क्या करूँगा जो गहनों के लिए मेरी जान खाती रहें।' रामप्यारी उससे पूछती है कि वह कैसी मेहरिया वह चाहता है? जोखू उत्तर देता है– मैं चाहता हूँ वह तुम्हारी तरह हो। ऐसी ही गंभीर हो, ऐसी ही बातचीत में चतुर हो, ऐसी ही अच्छा खाना पकाती हो, ऐसी ही किफायती हो, ऐसा ही हँसमुख हो। बस ऐसी औरत मिलेगी तो करूँगा, नहीं इसी तरह पड़ा रहूँगा।'' प्यारी का मुख लज्जा से आरक्त हो गया। उसने पीछे हटकर कहा– तुम बड़े नटखट हो। हँसी–हँसी में सब कुछ कह गए।' कहानी अपनी व्यंजना के साथ यहीं समाप्त हो हाती है।[7] संकेत के माध्यम से लेखक विधवा रामप्यारी का विवाह जोखू के साथ कराने का प्रस्ताव पास करा देता है। रामप्यारी आधुनिक पढ़ी–लिखी नारी नहीं है, फिर भी उसके विचार अधुनातन हैं, वह छोटे–बड़े के भाव को छोड़कर नौकर के प्रस्ताव को भी स्वीकार कर लेती है। मुनष्य में मनुष्यता बडी बात होती है, आधुनिक नारियाँ इसी तरह स्वभाव से व्यवहार करती है। रामप्यारी की मुक्ति एक आधुनिक नारी की मुक्ति की तरह है।

निष्कर्ष

इस प्रकार आधुनिक स्त्रियों की मुक्ति का दास्तान प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया है। अपने कार्यों से, अपने विचारों से तथा समाज में अपने रहन–सहन के द्वारा आधुनिक स्त्रियों की मुक्ति संभव हो पाई है। गोदान में मिस मालती की मुक्ति उनके विचारों, उनकी शिक्षा–दीक्षा तथा रहन–सहन के ढंग से हुई है। बहुत सारी नारियों की मुक्ति आधुनिक विचारों के कारण हुई है। विधवा विवाह वहीं हुआ है जहाँ नारी रूढ़ि को तोड़ती है और अपना जीवन सुखमय बनाने का प्रयास करती है। जाति का बन्धन भी वहीं नारी तोड़ती है जो परंपरा और रूढ़ि को नहीं मानती है। शुद्ध मन से प्रेम करना जीवन को सुखमय बनाता है। सुभागी नामक कहानी में सुभागी अपने अच्छे कर्मों के द्वारा विधवा होकर भी जाति के बंधन को त्यागकर विवाह करती है। छोटी जाति की होकर भी सवर्ण से उसका विवाह होता है। यह सब आधुनिक विचारों के कारण ही संभव है। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में ऐसे विचारों को जन्म दिया है और अपने पात्रों पर लागू किया है।

संदर्भ सूची :

1. प्रेमचन्द, गोदान, विश्व विजय प्रा0लि0, नई दिल्ली, संस्करण 1956, पृ0 84
2. प्रेमचन्द, गोदान, विश्व विजय प्रा0लि0, नई दिल्ली, संस्करण 1956, पृ0 362
3. प्रेमचन्द, गोदान, विश्व विजय प्रा0लि0, नई दिल्ली, संस्करण 1956, पृ0 262–263
4. प्रेमचन्द, मानसरोवर (भाग एक), मनोवृत्ति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृ0 275
5. प्रेमचन्द, मानसरोवर (भाग एक), मनोवृत्ति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृ0 28
6 डॉ0 अर्चना विश्वंभर घोटे, प्रेमचन्द का कथासाहित्य : दलित चिन्तन का परिप्रेक्ष्य, पृ0 133
7. मिश्र,डॉ0 शिवकुमार, कहानीकार, प्रेमचन्द : रचना दृष्टि और रचना शिल्प, पृ0 118–119

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

धर्म सत्ता और स्त्री

आनन्द कुमार
शोध छात्र, हिन्दी विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश

स्त्री के सन्दर्भ में, असमानता का मूल कारण ही धर्म है। समाज में जहाँ स्त्री के लिए एक तरफ परिवार के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक के सारे मानदण्ड धर्म की आड़ में ही गढ़े गये हैं। जो परिवार के रूप में एक ढाँचा तैयार करता और पुरुष को सारे अधिकारों को सौंपते हुए, स्त्री को जीवन भर गुलाम बनाए रखने की भी व्यवस्था करता है। भारतीय भू–भाग में तो जाति पर भी धर्म की मुहर लगाकर उसे जन्मजात बना दिया जाता है। इसी प्रकार लिंग को भी आधार बनाकर स्त्री को भी दोयम दर्जे का मान लिया जाता है। धर्म को ध्यान में रखकर स्त्री को पुरुष की अनुगामिनी मान लिया गया है। अर्थात् वह पुरुष पीछे चलते हुए अपना जीवन व्यतीत करे। स्वाभाविक है ये तर्क पुरुषों द्वारा गढ़े गये हैं क्योंकि सारे धर्म के निर्माता ही पुरुष है। इसलिए उन्होंने अपनी सुविधा का पूरा–पूरा ध्यान रखा है। चाहे इसके लिए स्त्री को धर्म के नाम पर सती ही क्यों न होना पड़े।

बीज शब्द : धर्मसत्ता, सृष्टा, शोषण, समाज का दंश, मानवाधिकार, यौन–दासी, तलाक, हिन्दू धर्म, संस्कार, मायाजाल।

सती प्रथा और विधवा विवाह पर रोक, स्त्री के प्रति इस प्रकार की सोच का परिणाम है कि स्त्री को पुरुष (पति) बिना जीवन का निरर्थक मानकर उससे हँसने का अधिकार भी छीन लिया जाता है। यह सर्व प्रचलित है कि स्त्री की खुशी का कारण एक मात्र पुरुष ही हो सकता है। चाहे धर्म कोई हो उसमें ''स्त्री को दोयम दर्जे का जीव माना गया है। सभी धर्मों ने पुरुष की स्त्री से दूर रहने की सलाह, हिदायत और शिक्षा दी है। सभी धर्मों ने प्रथम दृष्ट्या यह माना है कि सृष्टा या सर्वशक्तिमान पुरुष ही होता है। ईसाई धर्म में आदम की पसली से औरत पैदा हुई। हिन्दू धर्म में स्त्री की उत्पत्ति के बारे में कुछ स्पष्ट नहीं मिलता, लेकिन उसमें सृष्टि का विस्तार स्त्री के शोषण और पुरुष के वर्चस्व पर आधारित है जैसे ब्रह्म का अपनी पुत्री से जबरन संभोग करना। धरती से सीता का पैदा होना और पुरुष जुल्म के बाद धरती में समा जाना। सिख, जैन या बौद्ध धर्म ने स्त्री की उत्पति पर कुछ कहा ही नहीं।. ....संभवतः विश्व के किसी भी धर्म की प्रवर्तक कोई स्त्री नहीं है, वह पुरुष ही है। सभी धर्मों में स्त्री को पुरुष के अधीन रहने का निर्देश दिया गया है। चूँकि अतीत में समाज धर्म से ही चलता रहा है और विकृत होता रहा है, इसलिए असली खुराफात धर्म ने ही की हैं।[1]

यह भी तथ्य किसी अजूबे से कम नहीं है कि धर्मों के सभी आडंबर और अनुष्ठान प्रायः स्त्री के मत्थे मढ़े गये हैं, जबकि इन्हें बनाने वाला पुरुष है। इसको इस तरह भी समझा जा सकता है कि एक पाव सब्जी में एक किलो नमक डालकर पुरुष कहता है। ये स्त्री के लिए है। इसे खाना भी अनिवार्य बताता है और बचने का कोई विकल्प भी नहीं देता, जबकि पुरुष स्वयं उस सब्जी को चखना भी नहीं चाहता। क्योंकि जानता है वो सब्जी की स्थिति, उसे बनाने वाला स्वयं है। इसी प्रकार सभी धर्मों को बनाने वाले पुरुष है। पर इसे लागू किये हैं स्त्रियों पर। कोई स्त्री इससे बचना भी चाहे तो समाज का दंश उसे जीने नहीं देता। स्पष्ट है समाज पर भी पुरुष वर्ग का ही वर्चस्व है– ''ईसाई लोग, औरतों को डायन' कह कर उन्हें जीते जी जला कर मार डालते थे। हिन्दू लोग भी औरतों को जीते जी आग में झोंक डालते थे, पति के साथ सहमरण के लिए लाचार करते थे। मर्दों का बहु विवाह तो प्रचलित था ही, उत्तराधिकार और मानवाधिकार से औरतों को वंचित रखा जाता था। वे लोग यौन–दासी और बेटा पैदा करने की मशीन के रूप में इस्तेमाल की जाती थी। औरतों को जीते जी जलाते भले न हों, लेकिन

उन लोगों को सेक्स–दासी और पुरुषों की सम्पत्ति के तौर पर इस्तेमाल करना सभी अन्यायन्य धर्मों की तरह इस्लाम का भी आदर्श था।''[2]

यहीं नहीं, इस्लाम में एक पति चार–चार पत्नियां भी रख सकता है और तीन बार 'तलाक' कहकर उसे छोड़ भी सकता है। चाहे वो मोबाइल से ही क्यों न हो! पर, स्त्री को तो तलाक देने का भी अधिकार नहीं है। अर्थात् धर्म निर्माता ने पुरुष के दोनों हाथ में लड्डू दिये हैं। उसको वो खाये या फेंके, इसका निर्णय करने के लिए भी स्वतंत्र छोड़ा है। वहीं दूसरी तरफ स्त्री के दोनों हाथ खाली रखने के साथ उसे बांध दिये हैं, चाहकर भी वो अपने हिसाब से कुछ नहीं कर सकती। धर्म सैद्धान्तिक रूप से समानता की बात करता है, पर व्यावहारिक रूप में स्त्रियों को दोयम दर्जे का ही समझा है।

हिन्दू धर्म में स्त्रियां शादी के बाद गले में मंगलसूत्र लटकाए रहती है। पर विडंबना ये है कि उसमें मंगल कामनाएं पति की रहती है। धर्म ने स्त्रियों को यह समझने की कभी इजाजत ही नहीं दी कि जब मंगल पुरुषों का होता है तो गले में माला हम क्यों लटकाये फिरते हैं। अगर ऐसा करने से स्त्री इनकार करती है तो वो संस्कारित नहीं हैं और पुरुषों का पूरा धर्म खतरे में पड़ जायेगा। इसलिए पूरा समाज उस स्त्री से बदला लेने में कोई कसर नहीं छोड़ेगा। इस तरह स्त्रियां ज्यादतर धर्म भीरू भी बन गयीं। यहीं स्थिति मुस्लिम धर्म में भी है कि रोजा दोनों रखते हैं, लेकिन सबाब सिर्फ पुरुषों को ही मिलता है। एक आश्चर्य यह भी है कि इस्लाम में दो औरतों की गवाही एक पुरुष के बराबर मानी जाती है तो हिन्दू धर्म में दो स्त्रियाँ भी यदि व्रत–उपवास रखें, तो भी उसका पुण्य एक पुरुष के बराबर भी नहीं माना जाता है।

स्त्री से ही उत्पन्न होकर पुरुष, अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए ही धर्म का आविष्कार किया है, इसमें संदेह नहीं। नहीं तो क्या कारण है कि जितने भी धर्म हैं, सभी के संस्थापक पुरुष हैं, स्त्री नहीं। न ही स्त्री किसी धर्म की संचालिका है। ''न वह पूजा–पाठ, कथा, हवन करने वाली पंडित है, न मौलवी है न पादरी। वह केवल पतिव्रता धर्म का पालन करने के लिए इस संसार में जन्मी है, इस धारणा के साथ कि जिस घर में जन्मी, उस घर से उसकी डोली उठेगी और जिस घर में ब्याही, वहाँ से अर्थी। डोली से अर्थी तक की इस यात्रा में स्त्री कई–कई बार मरी है पर उफ करने का अधिकार उसे नहीं मिला।''[3] द बोउआर का भी यहीं मानना है कि जिस धर्म का अविष्कार पुरुष ने किया, वह उसके स्त्री पर आधिपत्य जमाये रखने का एक सुन्दर मायाजाल है। जिससे बचना मुमकिन ही नहीं है। यह मायाजाल इसलिए बुना ही गया है कि ''धर्म और पुरुष मिलकर स्त्रियों के अधिकारों को छीनने में सहायक बनती रहे। पंडित, पुजारी, पादरी, मौलवी, आदि अपने को देवदूत मानकर स्त्रियों का भोग करने में हिचकते नहीं है। यह शोषण धर्म द्वारा है। पुरुष धर्म के कई झूठे विश्वासों में स्त्रियों को फँसाकर स्त्री का शोषण सफलता से कर सकता है।''[4] आशाराम, रामरहीम, इसके प्रत्यक्ष एवं ज्वलंत उदाहरण है।

धार्मिक कट्टरता का जहाँ सबसे ज्यादा शिकार महिलाएं होती हैं वहीं पुरुषसत्ता को इससे संरक्षण प्राप्त होता है। यह घर में हो या घर के बाहर, स्त्री को नियंत्रित करने में धर्म पुरुष की सदैव मदद करता है। पुरुष सदाचार के नाम पर अपना पूरा शरीर छुपाने के लिए स्त्री से कहता है और खुद अपने शरीर का प्रदर्शन करने से बाज नहीं आता। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पुरुष पूरा नग्न होकर भी शरीर का प्रदर्शन करे तो भी कोई बात नहीं और वहीं स्त्री फटा जिंस भी पहन ले तो संस्कार खतरे में पड़ जाता है। अभी हाल ही में बॉलीवुड अभिनेता रणवीर सिंह और विद्युत जामवाल ने अपनी एकदम नग्न फोटो सोशल मीडिया पर शेयर की थी। फोटो खूब वायरल भी हुई थी; और वाहवाही भी खूब मिली थी। पर एक पुरुष यह कहने वाला नहीं मिला कि यह भारतीय परम्परा के हिसाब से गलत है या ऐसी फोटो शेयर करना सही नहीं है। जबकि लड़की के जिंस, वो भी कटा हुआ पहनने मात्र से हजारों इकट्ठे हो जायेंगे कि ये भारतीय परंपरा के खिलाफ है। अब तो मंदिरों में भी कटा जिंस पहन कर जाने

पर पाबंदी लगा दी गयी है, कुछ राज्यों में। हाँ, ये अलग बात है कि उसमें के पण्डे पूरे खुले बदन रहते हैं।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि धर्म के नाम पर होते हिंसा की त्रासदी को महिलाएं समझ नहीं पाती और इसे समर्थन करती रहती हैं। जबकि उनको कब्जे में रखने का धर्म एक मजबूत कड़ी है। और उसके निर्माण में इनकी भूमिका नगण्य रही है। वे देवियाँ बनाई गई, उनके पूजा अर्चना की तमाम विधियाँ बनाई गई, किन्तु हकीकत में उन्हें जो अधिकार चाहिए था उससे दूर रखा गया।

पुरुष सत्ता का मूल आधार ही धर्म है। स्त्री का दोयम दर्जा सिर्फ हिन्दू धर्म ही नहीं, लगभग हर धर्म में मौजूद है। चाहे वह बाइबल हो, कुरान हो या अन्य धर्म ग्रंथ हो, क्योंकि स्त्रियों को हमेशा पुरुष से कमतर माना गया। स्त्री अधिकार की बात हमारे धर्म ग्रंथों में कही ही नहीं गई। इस्लाम के सबसे बड़े दर्शनाचार्य अलगजनी (मृत्यु 1117 ई0) मानते हैं कि ''औरतों से राय लेना ठीक है, लेकिन, आचरण हमेशा उसके विपरीत करना चाहिए। औरतों की रचना छाती की टेढ़ी हड्डी से की गई थी। इसलिए, तुम औरत को अगर झुकाना चाहोगे तो वह टूट जायेगी और स्वतंत्र छोड़ोगे तो वह और भी टेढ़ी हो जायेगी।.... जहाँ तक सम्भव हो, औरतों को घर बाहर नहीं जाने देना चाहिए।..... न उन्हें छत पर जाने दे, न उन्हें दरवाजे के पास खड़ा होने देना चाहिए.... ईश्वर के बाद यदि किसी और को पूजना आवश्यक हो तो औरतों को पूजा अपने शौहरों की करनी चाहिए।''[5] और हिन्दू धर्म में स्त्री ''पुरुष के शाप से शिला बन जाती है, पुरुष के ही स्पर्श से फिर मानवीय बन जाती है। पुरुष उसे अग्निपरीक्षा देने को कहता है, गर्भवती पत्नी को बनवास दे देता है, पुरुष की इच्छा से उस वस्तु की तरह दांव पर लगा देता है। सभी धर्मों में उसे नरक की खान, ताड़न की अधिकारी और क्या–क्या नहीं कहा गया। गरुण पुराण तो इस कदर स्त्री–विद्वेष से आच्छादित है कि उसे सुनते हुए वितृष्णा होती है।''[6] दुनिया के किसी भी धर्म का उदाहरण उठाकर देखा जा सकता है हाशिए पर औरत ही है। और इस बात पर भी गौर किया जा सकता है कि ईश्वर, अल्लाह, गॉड सबके सब पुरुष हैं।

प्रत्येक देश का इतिहास साक्षी रहा है कि धर्म के संरक्षण में हुए देह के सौदे पर समाज गर्व करता रहा है और इसके एक से एक उदाहरण से इतिहास के पन्ने रंगे हुए हैं। मंदिर, मस्जिद, और गिरिजाघर से खुलने वाली धर्म की खिड़कियाँ सदियों से स्त्री देह को एक माध्यम मानती रही है। स्त्री देह यानी एक रास्ता जो स्वर्ग की ओर ले जाता है और इसी धर्म की आड़ में होते रहें है देह के सौदे, ''देवताओं के जरिए महिलाओं का उपभोग करने की अनेक परंपराएं और पारंपरिक कथाएं बहुश्रुत हैं। सच कहा जाए तो अतिप्राचीन काल में देवताओं द्वारा नारी द्वारा उपयोग किया जाना सम्मानजनक माना जाता रहा है। सीरिया के हेलियोपोलिस नाम के शहर में हर कुंवारी लड़की का कम से कम एक बार किसी अनजान व्यक्ति के साथ मंदिर में शयन जरूरी माना जाता था तो वहीं अरमेनिया में संभ्रात परिवारों ने भी अपनी लड़कियों को देवी की सेवा में लगाया।''[7] क्या किसी देश के इतिहास में एक भी उदाहरण ढूढने पर भी मिलेगा कि पुरुष को भी मंदिर में चढ़ावा–चढ़ाया गया हो, जिसके देह का सौदा किया गया हो? इजिप्ट में तो संत महिलाओं की भीड़ के बीच निर्वस्त्र ही निकल पड़ते थे। बच्चे की उम्मीद रखने वाली उनसे सहवास की याचना करनी थी। तब संत भरे मुहल्ले के बीच उस महिला से संभोग करते थे। हाँ, तब इसको सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और सहवास की हुई स्त्री को बधाइयाँ यह कह कर दी जाती थी कि यह ईश्वर के प्रतिनिधि द्वारा उपभोग के लिए चुनी गई।

प्राचीन बेबीलोन की सभ्यता में एक चर्चित 'मिलिटा देवी' को स्वतंत्रता का प्रतीक माना जाता था। मान्यता थी कि उन्हें असीमित आयु की चाह थी। प्रत्येक वर्ष इस देवी की यात्रा निकलती थी। यात्रा के समय मंदिर आने वाले पुरुष किसी भी स्त्री का हाथ थाम सकता था, उस स्त्री को बिना विरोध किये उसके साथ सहवास करना होता था। कई वर्षों तक यह प्रथा यथावत चलती रही। संबंधित पुरुष अपनी सन्तुष्टि के पश्चात् स्त्री को इनाम देता था, जिसे वह मंदिर की दक्षिणा पेटी में डालती थी। ध्यान देने वाली बात यह है कि संतुष्ट पुरुष हो रहा है। दान मंदिर में चला जा रहा है, पर पीसी

तो औरत न? उसे इसमें क्या मिला। हिन्दू विवाह के समय भी प्रत्येक हिन्दू वधू इन्द्र समेत पांच देवताओं से विवाह करती है, इसके बाद ही वह अपने असली वर से विवाह कर पाती है।

पुराण में भी ये उल्लेख मिलता है कि मानव स्त्री से देवताओं का शारीरिक संबंध विशेष अनुकम्पा है। आज भी ऐसी धारणा व्याप्त है कि ईश्वर को प्रसन्न करने से उनसे विवाह करने से संकटों का निवारण होता है। संभवतः इसी कारण से देवदासी प्रथा का जन्म हुआ। देवदासियों के लिए मंदिर सबसे उपयुक्त स्थान माना गया है। जो खुद को देव यानी ईश्वर की दासी कहती है, किन्तु लोगों में वेश्या नाम से प्रचलित है। मंदिरों में व्याप्त कर्मकाण्डों का खुलासा करते हुए 'ड्यूबोईस' लिखते हैं ''तो ऐसी है हिंदुओं के धार्मिक आयोजनों की रूपरेखा। इससे ज्यादा अश्लील और शर्मनाक धर्म सभ्य मनुष्य ने शायद ही कहीं और कभी देखा हो।''[8] ड्यूबोइस शायद अरब देश से था, वहाँ की प्रथा से परिचित नहीं थे, नहीं तो ऐसा सिर्फ एक देश के धर्म के विषय में न लिखते। खैर! अरब जैसे देश में दस–बीस पत्नियां रखने वाले पति की कोई पत्नी यदि गलती से भी किसी अन्य पुरुष से यौन संबंध बना लेती है तो उसे पत्थर खाकर मरना पड़ता है। स्पष्ट है, देश कोई हो, धर्म–सत्ता पूरी की पूरी पुरुष के अधिकार क्षेत्र में है। अगर ऐसा नहीं होता तो स्त्री–पुरुष के बीच इतनी असमानता न रहता कि पुरुष कितनी ही पत्नियाँ रख सकता है और स्त्री अपने पसंद का एक पुरुष भी नहीं चुन सकती।

धर्म का आदर्श होता है देवत्व। और उस देवत्व ने स्त्री का किस प्रकार शोषण किया, इसका उदाहरण परम्परा से चली आ रहीं पौराणिक कथाओं से लिया जा सकता है। यथा– 'अहल्या', जिसके साथ भेष बदलकर संभोग इन्द्र ने किया। पता चलने पर शाप पति गौतम ऋषि ने दिया, फिर शाप से उबारने वाले राम हुए। इन सबमें अहल्या का क्या योगदान रहा लेकिन सजा उसे मिली। लेकिन तपस्वी कहलाए ऋषि गौतम, देव कहलाये इन्द्र, और तारक की उपाधि ले गये राम। अहल्या को क्या मिला? पति छूटा, शरीर टूटा, फिर पत्थर बना दी गयी। महाभारत काल में तो जब रानियाँ गर्भवती होती थी तो राजाओं अर्थात् पुरुषों के लिए अलग से स्त्रियों की व्यवस्था की जाती थी ''गांधारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र को गणिका की आवश्यकता पड़ी थी।..... कुलपति भरत के प्रसाद में पत्नी के अतिरिक्त एक और भोग्या नारी रहती थी। वन जाने के समय भी पांडवों के साथ रथ, पण्यद्रव्य और गणिकावास था, सम्भवतः सेना के मनोरंजन के लिए।''[9] यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या रानियों या स्त्रियों के लिए भी अलग से व्यवस्था पुरुषों की रही है ? जब राजा लम्बे समय के लिए युद्ध के लिए चले जाते थे।

यहीं नहीं, वनपर्व में ही कहा गया है कि ब्राह्मणों को सुन्दरी कन्याएँ दान करने का फल बहुत बड़ा होता है। राजा 'सागर' ने अनेक कन्याओं का दान दिया भी था। राजा 'वेन' ने भी अत्रि ऋषि को दिया था। जो सुन्दर नहीं थी उन्होंने भला क्या बिगाड़ा था? कन्या दाता लोगों को यह लोभ दिया जाता था कि स्वर्ग में प्रचुर पुरस्कार मिलेगा और यह पुरस्कार होता था स्वर्ग की अप्सराएँ। मतलब स्वर्ग में भी स्त्री ही छली जा रही है। कहना गलत नहीं होगा कि ''इस प्रकार के पुण्य और पुरस्कार का लोभ दिखाकर ब्राह्मण अनेक सुन्दरी नारियों को दान में प्राप्त करते थे। हाँ, दाता को अवश्य ही स्वर्ग की अप्सराओं के साहचर्य लाभ के लिए मृत्यु तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।''[10] स्पष्ट है कि पृथ्वी की गणिका का कार्य स्वर्ग में अप्सरा के जिम्मे है और दोनों जगह उपभोगकर्ता के रूप में पुरुष मौजूद है। ऐसे ही ब्राह्मणों पर जो स्वर्ग दिलाते हैं, पर कबीर ने कटाक्ष किया था कि वह किसी और रास्ते से उत्पन्न होते हैं क्या ?

इसी परम्परा में पाराशर ऋषि भी आते हैं। जिन्होंने धीवर कन्या (मन्दोदरी) को देखकर उस पर मोहित हो गये थे। जबकि लड़की मात्र सात वर्ष की थी। यह जानते हुए भी उन्होंने लड़की से रति–दान माँगा। तपस्वी थे कुछ भी माँग लेने का उनको अधिकार था। अबोध बालिका बिचारी क्या करती। जब पुरुषों का प्रतिकार बड़ी–बड़ी रानियां नहीं कर पायी थीं। बालिका ने बस यही कहा कि 'मैं अभी अबोध बालिका हूँ।' रति विषय का ज्ञान मुझमें नहीं है, ऊपर से ये दिन का समय। लोग देखेंगे तो आपके विषय में क्या सोचेंगे? लेकिन भला तपस्वी कब समझने वाले थे, ''काम से पीड़ित पराशर ने

उसी क्षण मच्छोदरी को युवती बना दिया तथा कुहरे से अंधकार उत्पन्न करके, कन्या से रति–दान प्राप्त किया। मच्छोदरी के उदर से व्यास जी उत्पन्न हुए। मच्छोदरी को बड़ा दुःख हुआ और वह अपने कलंक के लिए पश्चाताप करने लगी।''[11] पाप करे कोई पश्चाताप करे कोई? परम्परा से यहीं तो हर घर में बताया या सिखाया जाता रहा कि पति (पुरुष) कुछ भी करे, विरोध नहीं करना है।

स्वर्ग प्राप्ति की लालसा सिर्फ हिंदू धर्म में ही नहीं अन्य धर्मो में भी है। दूसरे को स्वर्ग दिलाने वाले पता नहीं इसका अर्थ भी समझते हैं कि नहीं, पर दूसरे के लिए तो घर बैठे ही स्वर्ग की राह बता देते हैं। यहीं ''इस्लाम में पुरुषों को जन्नत का लालच देते हुए कहा गया है कि उन्हें वहाँ और गिल्में (लौंडे) मिलेंगे शराब की बहती हुई नदियाँ। किन्तु औरतों के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। यहाँ पुरुष भी कम चतुर नहीं है। जन्नत की कौन जाने, वे इसी जन्म में अधिक से अधिक भोग लेना चाहते है।... यौन–संबंधों के लिए तो पुरुषों को तो इहलोक–परलोक दोनों में काफी आजादी दी गयी है। पर औरतों को? पुरुष कुछ शर्तों के साथ चार शादियां कर सकता है, पर औरत? एक साठ वर्षीय पुरुष को नौ वर्षीय बालिका के साथ विवाह की इजाजत है, जो धर्म के अनुसार जायज मानी जाती है। पर औरत?''[12]

प्राचीन परम्परा को कुछ समय के लिए विसरा भी दिया जाय तो, आधुनिकता में देखें तो, अपनी विद्वता से पूरी दुनियां में अपना लोहा मनवा चुके चोटी के विद्वान भी, स्त्रियों के सन्दर्भ में अपनी सोच को विस्तृत फलक नहीं दे सके। उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है कि ''केशवचन्द्र सेन जैसे बौद्धिक प्रगतिशील का अपनी तेरह वर्षीय पुत्री का कूच बिहार के राजकुमार से विवाह, नवोत्थानवादी रानाडे का वृद्धावस्था में ग्यारह वर्षीय बालिका से विवाह,..... भारतीय संस्कृति की रक्षा के नाम पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विधवा पुनर्विवाह का विरोध किया, तो तिलक ने बाल विवाह विरोध को भारतीय संस्कृति पर चोट माना। यौन शुचिता के आग्रह में उन्होंने तर्क दिया कि बचपन में विवाह होने पर विवाह पूर्व यौन सम्पर्क की गुंजाइश नहीं रहती। विवेकानन्द ने भी भारतीय अतीत की आधिभौतिक मातृछवि का महिमा मंडन किया, बावजूद इसके कि वे पाश्चात्य स्त्री (विशेषकर अमरीकी स्त्री) की स्वतंत्रता से प्रभावित थे।''[13]

विवेकानन्द जैसे प्रकांड विद्वान ने यह घोषणा की थी कि अगली सदी शूद्रों की होगी। पर स्त्रियों के सन्दर्भ में पूछा गया तो वे पल्ला झाड़ लिए यह कहते हुए कि– 'मैं स्त्रियों के बीच नहीं रहा।' ये क्या जवाब हुआ भला। इनके प्रतिक्रिया स्वरूप मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं– ''नए विवेकानंदों की दलीलों में– मैं औरतों में नहीं रहा, कोई सहपाठिनी नहीं, कोई शिक्षिका नहीं, कोई लेखिका और कवयित्री भी आसपास नहीं..... न होगी बहुत संभव है, लेकिन इस दलील में दम नहीं। विवेकानंदों स्त्री विहीन दुनिया में रहते थे, क्योंकि कुंआरे थे।..... विवेकानन्द से हम सवाल कर सकते हैं कि ये अपनी माता और बहन–भाभी जैसी स्त्रियों को किस कोटि में रखते हैं और हमारे व्याख्यानकार का नजरिया पत्नी, बेटी–बहन जैसी औरतों के लिए क्या बनता है? वे देवियाँ, सतियां ही नहीं होती, मनुष्य की नस्ल स्त्रियाँ होती हैं। उनका उत्तर कुछ भी हो सकता है। उत्तर नहीं होगा तो उपदेश होंगे, जैसे– व्यक्ति और समाज, देश और धर्म की दृष्टि से सुधारकों से विनम्र निवेदन है कि वे पुरुषों और स्त्रियों के कार्यों को मिश्रित न करें। पुरुष को उसके स्वभाव और योग्यता के हिसाब से बाहर के कार्य और स्त्री को उसके स्वभाव और योग्यता के अनुसार भीतरी कार्य दिए जाएं।..... तब हमारे ऋषितुल्य विवेकानन्द का कहना ठीक है, औरत बाहर नहीं जायेगी तो पुरुष दिखेगा ही कैसे?''[14] कहने का अर्थ यह है कि स्त्रियों के लिए घर सुरक्षित जगह है। न वो बाहर निकलेगी, न पुरुषों से खतरा रहेगा। ये तो वहीं बात हो गयी कि नीयत तुम्हारी खराब, और तन को मैं ढकूँ। मैत्रेयी पुष्पा के शब्दों में कहें तो ''तेरी नजर बेशर्म, और बुर्का मैं पहनूं।''[15] लेकिन न चाहते हुए भी पहनना पड़ता है। क्योंकि आज भी धार्मिक कट्टरता मौजूद है।

आठ अगस्त, 2023 को 'अमर उजाला' में चौकाने वाली खबर छपती है कि 'ईरान में हिजाब न पहनने वाली महिलाओं को सजा दी जा रही है। उनसे मुर्दाघरों की सफाई कराई जा रही है। साथ ही मनोचिकित्सक के पास जबरजस्ती इलाज के लिए भेजा जा रहा है। ईरान सरकार हिजाब न पहनने वाली महिलाओं पर पहले से ज्यादा सक्ती बरत रही है। अस्पताल ऐसी महिलाओं का इलाज करने से कतरा रहे हैं। यहीं नहीं उनको नौकरी से निकालने का फरमान भी जारी किया जा रहा।' आम औरतों की तो बात ही छोड़िए ईरान की मशहूर हस्ती में शुमार अभिनेत्री 'अफसाने बेयेगन' को भी दो साल की सजा सुनाई गई है। इनका कसूर यह बताया गया कि बीते दिनों अपनी कई तस्वीरें बिना हिजाब पहने सोशल मीडिया पर पोस्ट की थी। तालिबान की स्थिति तो और बदतर है। और तो और, ईरान में ही, एक सोलह वर्षीय लड़की को मेट्रो में, पुलिसकर्मियों ने बस इसलिए पीटा था कि उसने हिजाब नहीं पहना था। पीटाई भी इतनी की गयी की वह कोमा में चली गयी। ये होता है धर्म का नशा, जिसको झेल स्त्री रही है। इसके लिए देश–विदेश कोई सीमा नहीं है। बांग्लादेश की प्रख्यात लेखिका को बस इसलिए देश निकाला दे दिया गया कि उन्होंने समय के साथ कुरान में कुछ संशोधन करने की बात कही थी।

इस्लाम धर्म का यह भी मानना है कि ईश्वर ने पहले पुरुष को बनाया, इसके बाद स्त्री को। (वह भी पुरूष की पसलियों से) इसलिए पुरुष प्रथम व्यक्ति है जबकि स्त्री बाद की, तभी परनिर्भर प्राणी है। और यह भी विश्वास किया जाता है कि ''पुरुष की रचना स्त्री पर शासन करने और उनके जीवन मामलों का प्रबंधन करने के लिए हुआ है। मर्द औरतों का शासक है क्योंकि खुदा ने ही उसे श्रेष्ठ बनाया है और इसलिए भी की वह अपनी संपत्ति उन पर खर्च करता है। हिन्दू धर्म की तरह इस्लाम भी स्त्रियों की देह को अशुद्ध मानता है।... ईसाइयों की आस्था वर्जिन मेरी की शक्ति में हैं, जो शाश्वत कुंवारी होने के साथ ही ईश्वर की माँ है। ग्रीक लोग उर्वरता की देवी सेरेस की पूजा करते हैं और साथ में कुंवारी एकेना की भी।''[16] मरियम, जिनको समाज पहले गुनाहगार समझता था, और व्यभिचारिणी मानता था। वहीं मरियम ईसा (पुरुष) को जन्म के बाद गौरवान्वित हो गई। अगर वह बच्चा ईसा नहीं होता तो भला कौन जानता मरियम को।

अधिकांश धर्म गुरु औरतों को मस्जिदों में नमाज पढ़ने को गलत नहीं ठहराते किन्तु दबी जुबान से यह जरूर कहते हैं कि समाज में व्याप्त कुरीतियों और असुरक्षा के भय से स्त्रियों को मस्जिद में जाने को मना किया जाता है। दारुल ऊलम फारुकिया के मौलाना वली फारूकी के अनुसार ''औरतों की मर्दों के साथ पढ़ी गई नमाज इबादत नहीं होगी। हिन्दुस्तान के हालात ऐसे नहीं है कि औरतें मर्दों के साथ पढ़ने निकले। इससे औरतों में बेपर्दगी को रोका नहीं जा सकेगा।''[17] दूसरी ओर 'सज्जाद नदवी' कहते हैं– ''यह गैर–इस्लामिक नहीं है, पर कुछ दूसरी वजहों से औरतें घर में नमाज पढ़े तो बेहतर है। इस्लाम चाहता है– समाज में अश्लीलता न आए, समाज पाक साफ बना रहे, इसके कारण हम कुछ बातों पर खुद से एहतियात बरतते हैं।..... संत ऑगस्टीन का कहना है कि सार्वजनिक और पुरुषों के बाहरी क्षेत्रों में औरत को घुसपैठ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे धार्मिक व्यक्तियों और पवित्र संतों में भी उत्तेजना जगा देती है।''[18] फिर वहीं बात, नियत में तुम्हारी खोट है और दोष दूसरे के मथ्थे मढ़ रहे हो। फिर वो संत कैसे हुआ जब उसमें उत्तेजना जाग ही जा रही हो तो? और जो दो–तीन साल की बच्चियों के साथ दरिदंगी होती है, क्या वो भी पुरुषों की उत्तेजना बढ़ाती हैं ? अपना घृणित पाप दूसरों के मत्थे मढ़ कर सही साबित नहीं हो सकते?

हिंदू धर्म में तो देवदासियों का इतिहास इस बात का प्रमाण रहा है कि धर्म के नाम पर वहाँ के मठाधीश अपनी वासना की तृप्ति करते रहे हैं– ''देवदासियों का काम था– पूजा, आरती के समय मंदिर के प्रांगण में नृत्य करना। यह तो हुई ऊपर की बात किंतु गौण और सर्वजन विदित भूमिका होती थी, पुरोहितों की वासना की तृप्ति।''[19] लेकिन ऐसी कुत्सित वासनाओं को स्त्रियाँ अब समझने लगी हैं ''सच मानिए, ऐसे धर्म शास्त्र से हमें घृणा रही है, घृणा होती है। धार्मिक ताकतों की चलाबाजियों को हम

समझ गये हैं, इनका मकसद समाज का हित करना नहीं, लोगों की जिन्दगी पर कब्जा करना है।''[20] ''धर्म, अर्थ, काम में से स्त्री को बस 'काम' थमा दिया, जिसका कर्ता पुरुष ही रहा और उसी काम में से हमने धर्म और अर्थ खोज लिया।''[21] अंततः स्त्रियों के हक में मैत्रेयी पुष्पा पूछ ही बैठती हैं कि ''कोई बताए, यहाँ स्त्रियों का अपना क्या है? शरीर जो पति का माना गया है, उसी की सजावट करनी है। भीतर–बाहर जो इंद्रियाँ हैं, उनको पति के अनुकूल चलना है। हे स्त्री ! तेरा सौन्दर्य बोध भी अपना नहीं, क्योंकि तू सजावट की चलती आ रही उस परंपरा में डूबती जा रही हो, जिसको पुरुष के लिए बनाया है। हमारा सबकुछ हमारे मर्दों से है।''[22] जिस दिन इस बात को सभी स्त्रियां समझ जायेंगी तो मर्दों को पैदा करना ही बंद कर देंगी फिर मर्दों की सारी मर्दानगी निकल जायेगी।

हिन्दू धर्म में महाभारत, मनुस्मृति आदि की प्रसिद्धि रही है, जिसमें स्त्रियों के लिए पति सेवा के अलावा और कोई पुण्य कार्य नहीं लिखा गया है। वेदव्यास, वशिष्ठ, परासर, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य सबने स्त्रियों के लिए पतिव्रता धर्म ही मुख्य रखा है। ईश्वर की पूजा उपासना भक्ति सब स्त्रियों को पति सेवा से ही मिलती है। क्या मजाक है कि वो सिद्धि ऋषि लोगों को बड़ी तपस्या करने के बाद मिलती है वह इसको पति सेवा से ही मिल जाती है। पति चाहे कैसा भी हो उसकी सेवा करनी चाहिए। अब इस सन्दर्भ में जरा देखिए मनु के उच्चतम आदर्श– ''शील से रहित हो, या दूसरी औरत से प्रीत रखता हो या गुण हीन हो तो भी सदा नेक स्त्री को देवता की मानिन्द पति की सेवा करनी चाहिए।.. जो स्त्री दूसरे से प्रीत रखती है वह इस लोक में निंदा होती है और दो पति वाली कहलाती है, और परलोक में पति लोक भी नहीं पाती। साध्वी स्त्री को दूसरा भर्ता किसी शास्त्र में नहीं लिखा।''[23] मनु के इस आदर्श वाक्य की पीड़ा एक स्त्री ही समझ सकती है, भले ही उसे अपना नाम क्यों न छुपाना पड़े, पर इस पर सवाल स्त्री ही कर सकती है। सीमन्तनी उपदेश की लेखिका सीधे शब्दों में किन्तु बड़ी बेबाकी से पूछती हैं– ''अगर दूसरा पति ही स्त्रियों के लिए नहीं तो महाराज पाण्डु कैसे पैदा हुए? फिर अर्जुन, युधिष्ठिर, भीम सेन कहा से आये? अगर धर्म शास्त्र में नहीं लिखा है तो उन लोगों ने कैसे किया? मालूम होता है यह धर्म शास्त्र पीछे बना है पुराना नहीं है। फिर नाग राजा की लड़की जब विधवा हुई, दूसरी शादी अर्जुन से हुई। फिर चित्रांगदा की भी दूसरी शादी अर्जुन से हुई।''[24]

निष्कर्ष

कुल मिलाकर इतना कहा जा सकता है कि सारे धर्म और उनके शास्त्र गढ़े गये हैं पुरुषों द्वारा किन्तु उसे संचालित किया गया है स्त्रियों पर। स्त्रियों पर शासन बनाए रखने के लिए ये पुरुषों का षड्यंत्र भी है, जिसको धर्म का नाम दिया गया है। नहीं तो क्या कारण है कि सभी धार्मिक स्थलों के मुखिया पुरुष ही बनाए जाते हैं। यही धर्म के सन्दर्भ में स्त्री की सच्चाई है।

संदर्भ सूची :

1 स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0 47
2 औरत का कोई देश नहीं, तसलीमा नसरीन, वाणी प्रकाशन, आवृत्ति 2017, पृ0 233
3 वागर्थ, मासिक पत्रिका, संपादक– शंभुनाथ, अंक 335, अक्टूबर 2023, पृ0 83
4 वागर्थ, संपादक– शंभुनाथ, अक्टूबर 2023, पृ0 86
5 संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, चौथा पेपरबैक्स, संस्करण 2019, पृ0 441–442
6 वागर्थ, संपादक– शंभुनाथ, अक्टूबर 2023, पृ0 75
7 औरत की बोली, गीताश्री, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ0 53
8 देवदासी या धार्मिक वेश्या, प्रियदर्शिनी विजयश्री, अनुवाद विजय कुमार झा, वाणी प्रकाशन पेपरबैक, द्वितीय संस्करण 2021, पृ0 36
9 भारतीय संस्कृति और सेक्स, गीतेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पहला पेपरबैक्स, संस्करण 2019, पृ0 24

[10] भारतीय संस्कृति और सेक्स, गीतेश शर्मा, पृ0 29
[11] भारतीय संस्कृति और सेक्स, गीतेश शर्मा, पृ0 56–57
[12] भारतीय संस्कृति और सेक्स, गीतेश शर्मा, पृ0 100
[13] स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2016, पृ0 70
[14] खुली खिड़कियाँ, मैत्रेयी पुष्पा, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2009, पृ0 22
[15] आवाज, मैत्रेयी पुष्पा, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ0 37
[16] स्त्रीवाद की सैद्धांतिकी और जेंडर विमर्श, वी0 गीता, अनुवाद– ऋचा, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण 2018, पृ0 31
[17] आम औरत जिंदा सवाल, सुधा आरोड़ा, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2009, पृ0 245
[18] आम औरत जिंदा सवाल, सुधा आरोड़ा, पृ0 246
[19] भारतीय संस्कृति और सेक्स, गीतेश शर्मा, पृ0 98
[20] खुली खिड़कियाँ, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 23
[21] आवाज, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 22
[22] खुली खिड़की, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 30
[23] सीमन्तनी उपदेश, एक अज्ञात हिन्दू औरत, सम्पादक– डॉ0 धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2006, पृ0 76
[24] सीमन्तनी उपदेश, एक अज्ञात हिन्दू औरत, पृ0 78

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

केन्द्रीय विकास योजनाओं का ग्रामीण महिलाओं पर प्रभाव

मीनाक्षी तिवारी
शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग
नागरिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय
जंघई, जौनपुर (उ0प्र0)

सारांश–

केन्द्रीय विकास योजनाओं से ग्रामीण समाज की महिलाओं का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर में उन्नयन हुआ है भारत सरकार ने विभिन्न योजनाओं व कार्यक्रमों तथा संवैधानिक सुधारों के माध्यम से महिलाओं की स्थिति को निरन्तर बेहतर बनाने का प्रयास किया है क्योंकि जिस समाज में महिला उपेक्षित रहती है उस समाज का विकास नहीं हो सकता। इसलिए महिलाओं को अनदेखा कर हम विकसित समाज की कल्पना नहीं कर सकते।

शब्द कुंजी– महिला, विकास, कार्यक्रम, योजना, संवैधानिक।

प्रस्तावना–

यह सर्वविदित है कि मानव का सर्वप्रथम स्थायी निवास गांवों से ही प्रारम्भ हुआ है। और आज भी विश्व की अधिकांश जनसंख्या गांवों में ही निवास करती है गांवों से ही मानव सामुदायिक जीवन में प्रवेश करता है 'किग्सले ड्रेविस' के अनुसार ''समुदाय वह छोटा स्थानीय समूह है जिसमें सामाजिक जीवन के समस्त पहलु सम्मिलित होते है'' (1) डेविस की इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि समुदाय एक ऐसा क्षेत्रीय समूह है जिसके सदस्यों में हम की भावना एवं सामान्य जीवन पद्धति पायी जाती है। के0 ए0 श्रीवास्तव वं पी0 एच लैण्डिज के अनुसार, ''गांव वह क्षेत्र है जिसके निवासी प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर निर्भर हों, जिसका सीमित आकार भी हो और जिसमे घनिष्ठ प्राथमिक सम्बन्ध पाये जाते है।''[1]

सामान्यतः विकास दो तरीकों से होता है एक अधिनायकवादी तो दूसरा प्रजातंत्रिक पहला बाह्य जनित तो दूसरा अन्तःजनित सामुदायिक विकास अन्तः जनित प्रजातांत्रिक तरीके से किया जाता हैं जिसमें परिवर्तन के लिए प्रेरणा दी जाती है। जिससे लोगों द्वारा स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है। सामुदायिक विकास अर्द्धविकसित एवं विकासशील देशों की प्रमुख प्रक्रिया है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले कृषि प्रधान देश के बहुमुखी विकास के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम अति आवश्यक है। जहां आज भी 2011 की जनगणना रिर्पोट के अनुसार कुल जनसंख्या का 68.9 प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है। अतः जब तक ग्रामों का कायाकल्प नहीं होता तब तक हम प्रगति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते भारत में सामुदायिक विकास योजनाओं का शुभारम्भ करने का श्रेय अमेरिकी राष्ट्रपति हैरीएस टूमेन को जाता है।

जिन्होंने 1952 में अपने विभिन्न कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत को आर्थिक सहायता देने का वचन दिया ताकि गांवो का विकास हो सके। अतः भारत में आधिकारिक रूप से सर्वप्रथम 2 अक्टूबर 1952 को राष्ट्रीय स्तर पर 55 सामुदायिक विकास योजना कार्यक्रम की शुरूआत की गई।

सामुदायिक विकास योजना का अर्थ

सामुदायिक विकास सम्पूर्ण समुदाय के विकास की एक ऐसी पद्धति है जिसमें जन सहयोग के द्वारा एक समुदाय विशेष की सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक सभी पहलुओं में समन्वित विकास कर सम्पूर्ण समुदाय के लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया जाता है। जो सरकार एवं जनता दोनों के समन्वित प्रयास से सम्भव है। आज भी भारत की लगभग 68.9 प्रतिशत लोग ग्रामीण है। अतः जनसंख्या के इतने बड़े हिस्से की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का प्रभावपूर्ण समाधान किये बिना हम कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः स्वतंत्रता के बाद से ही एक ऐसी वृहद योजना की आवश्यकता अनुभव की गई जिसके द्वारा ग्रामीण समुदाय में अशिक्षा निर्धनता, बेरोजगारी कृषि का पिछड़ापन गन्दगी तथा रूढ़िवादिता जैसी समस्याओं का समाधान हो सके सामुदायिक विकास से तात्पर्य सम्पूर्ण समुदाय का विकास कर उसे आत्मनिर्भर बनाने से है। सामुदायिक विकास योजना ग्रामीण समाज का समग्र विकास करने के उद्देश्य से संचालित की जाती है इसमें महिलाओं के लिए विशेष सुविधाएं दी गई है ताकि महिलाएं सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से सशक्त हो सकें।

योजना आयोग के अनुसार–

''सामुदायिक विकास स्वयं जनता के प्रयत्नों द्वारा ग्रामीण जीवन के सामाजिक एवं आर्थिक रूपान्तरण का प्रयास है।''

भारत सरकार के प्रकाशन (इंडिया 1959) के अनुसार, ''सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्वयं ग्रामीणों द्वारा आयोजित किया हुआ एक अनुदान प्राप्त आत्मनिर्भर कार्यक्रम है जिसमे सरकार प्राविधिक मार्गदर्शन एवं आर्थिक सहायता प्रदान करती है।''[2] इस प्रकार सामुदायिक विकास ग्रामीणो के सर्वांगीण विकास के लिए एक एकीकृत प्रयत्न है एक विशाल प्रयोग है। जिससे वे आत्मनिर्भरता की ओर आगे बढ़ सकें और उनका ग्रामों से शहरो की ओर पलायन को रोका जा सके और उनके स्थानीय गांवो में ही रोजगार के साधन विकसित किये जा सके। ग्रामीण जीवन में बाह्य हस्तक्षेप कम से कम हो जिससे दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति कम किया जा सकें। इस कार्यक्रम में भौतिक लक्ष्य शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, कुटीर–उद्योग, पशुपालन संचार–साधनों के विकास के साथ ही लोगों के विचारों तथा अभिरूचियों में बदलाव लाने तथा सहयोग की भावना एवं उत्तरदायित्व की इच्छा जाग्रत करने का प्रयास किया गया है। यह एक समन्वित सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रयास है। जिसका लक्ष्य गांवों के सामाजिक आर्थिक जीवन को परिवर्तित करना है। सामुदायिक विकास का सम्बन्ध ग्रामीण विकास से जोड़ा गया है जिसका तात्पर्य समाज की स्थानीय क्रियाओं द्वारा प्रगति से है विश्व के दूसरे देशों में इसे कई नामों से जाना जाता है। जैसे ग्रामीण पुर्ननिर्माण ग्रामोद्योग व सामुदायिक संगठन भारत में प्रथम योजना के प्रारम्भ में इसे ग्रामोद्धार का नाम दिया गया।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्देश्य–

विकास कार्यक्रम का उद्देश्य देश की 6.40 लाख से अधिक गांवो में निवास करने वाली 68.8 प्रतिशत जनसंख्या के सोचने–विचारने एवं कार्य करने के तरीकों में बदलाव लाते हुए उसे आत्मनिर्भर बनाना है। जिससे ग्रामीण भारत के सभी स्तरों के लोगों का सर्वागीण विकास हो सके। यह सामूहिक विकास की एक ऐसी प्रणाली है। जिसका उद्देश्य विशाल भारतीय ग्रामीण जनसमुदाय की शक्ति को गति प्रदान करते हुए उन्हें स्वयं के विकास के लिए प्रेरित करना एवं आगे लाना जिससे उनमें स्वयं सहायता की भावना उत्पन्न हो सके। हार्पर और डनहम के अनुसार ''सामुदायिक विकास कार्यक्रम का सामान्य उद्देश्य ग्रामीण लोगों की समाज कल्याण आवश्यकताओं और उपलब्ध विभिन्न कल्याण कारी साधनों के बीच समायोजन स्थापित करते हुए उनका विकास करना एवं आत्मनिर्भर बनाना है।'' प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्देश्यों को दो भागों में बाटा है। प्रथम उद्देश्य के अन्तर्गत कृषि उत्पादन में वृद्धि, जनसंचार व यातायात के साधनों में वृद्धि, ग्रामीण स्वास्थ्य, सफाई

एवं शिक्षा में सुधार लाना है। द्वितीतय उद्देश्य के अन्तर्गत ग्रामीणों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में परिवर्तन के उद्देश्य से एक सुव्यवस्थित समन्वित सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रारम्भ कर निर्देशित करना भारत सरकार के सामुदायिक विकास मंत्रालय द्वारा इस कार्यक्रम के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है।

- ण ग्रामीणों के मानसिक दृष्टिकोण को परिवर्तित करना
- णण गांव में उत्तरदायी एवं क्रियाशील नेतृत्व का विकास
- णणण ग्रामीणों को प्रगतिशील एवं आत्मनिर्भर बनाना
- ण्टण कृषि का आधुनिकीकरण कर ग्रामीण उद्योगों का विकास कर ग्रामीण लोगों के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाना
- टण उपर्युक्त सभी सुधारों को व्यवहारिक रूप देने के लिए ग्रामीण स्त्रियों एवं परिवारों की दशा को उन्नत करना
- टण ग्रामीणो को शिक्षा के प्रति जागरूक करना और साथ ही उनके स्वास्थ्य स्तर को उन्नत करना ताकि वे अधिक क्रियाशील रहते हुए विकास कार्यक्रमों में अपना सहयोग दे सके।

अतः उपर्युक्त बिन्दुओं पर प्रकाश डालने से यह ज्ञात होता है कि सामुदायिक कार्यक्रम का उद्देश्य समस्त ग्रामीणों का सर्वागीण विकास करने के साथ ही इस कार्यक्रम में ग्रामीण जनता के सक्रिय सहयोग पर बल दिया गया है। जिससे ग्रामीणों में आत्म–सहायता एवं आत्मनिर्भरता की भावना का संचार हो सके।[3]

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रशासनिक ढाँचा

कोई भी विकास योजना अपने लक्ष्यों को तभी प्राप्त कर सकती है जब उसका संगठन इस प्रकार बनाया जाय कि वे प्रभावकारी ढंग से कार्य कर सके सामुदायिक विकास कार्यक्रम को केन्द्र से लेकर ग्राम स्तर तक प्रभावशाली ढंग से संगठित कर इसे पांच स्तरो में विभाजित किया गया है। जिससे योजनाओं को केन्द्र से धरातल तक और ग्राम्य समस्याओं को केन्द्र तक पहुँचाया जा सके।

1. केन्द्र स्तर
2. राज्य स्तर
3. जिला स्तर
4. खण्ड स्तर
5. गांव स्तर

इन सभी स्तरों के माध्यम से ग्रामीण समस्याओं को केन्द्र तक प्रेषित किया जाता है जिससे आवश्यकतानुसार नीतियों का निर्धारण कर केन्द्र से गांव तक विभिन्न कार्यक्रमों को पूरा किया जा सके। इन कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में ग्राम पंचायतें सहकारी समितियां तथा ग्राम पाठशालाओं का मुख्य सहयोग होता है। ये तीनो संस्थाएं ग्रामीणों के लिए अधिक महत्वपूर्ण होती है। ये संस्थाएं ग्रामीणों से प्राथमिक एवं प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी होती है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को संचालित करने के लिए जनता और सरकार दोनों से वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। ये दोनों विकास कार्यक्रमो को गति प्रदान करते हैं। ''बलवन्तराय मेहता कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार सामुदायिक विकास कार्यक्रम को दो चरणो में बांटा गया प्रत्येक चरण 5 वर्ष का होता है प्रथम चरण में प्रत्येक खण्ड पर 12 लाख और दूसरे चरण में 5 लाख खर्च किया गया है।[4]

ग्रामीण पुनःनिर्माण में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की भूमिका–

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, पोषण, आवास एवं सामाजिक कल्याण से सम्बन्धित विभिन्न संचालित कार्यक्रमों ने ग्रामीण जीवन की सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं को निदान करने के साथ ही उनके जीवन के पूर्ननिर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया है।

इसने जनतांत्रिक आधार पर ग्रामों के पुर्ननिर्माण की ओर ग्रामीणों का ध्यान आकर्षित किया है। भारतीय गांवों की दशा आज भी दयनीय है जिसमें सुधार के लिए इस कार्यक्रम की पांच अवस्थाओं ग्रामीण क्षेत्रों की उन्नति में विश्वास, जनतंत्र में विश्वास, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में विश्वास ग्रामीणों की क्षमताओं तथा सामाजिक न्याय में विश्वास के प्रति लोगों ने अपनी स्वीकृति व्यक्त की है। इस कार्यक्रम के द्वारा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की धारणा को विकसित कर पंचायती राज संस्थाओं का गठन किया गया। आज यें त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाएं–ग्राम पंचायत समिति और जिला परिषदें–इसी धारणा का मूर्त रूप है। जिसने ग्रामीण नेतृत्व के विकास एवं निकाय कार्यो के प्रति लोगों में रूचि उत्पन्न करने में योग दिया इस कार्यक्रम के द्वारा ग्रामीण जीवन के विभिन्न पक्षों के विकास हेतु समन्वित प्रयासो पर विशेष जोर दिया गया इसके अन्तर्गत ग्रामीण जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सभी पक्षो को सम्मिलित किया गया यद्यपि सामुदायिक विकास कार्यक्रम को एक पूर्ण सफल प्रयास नही माना जा सकता किन्तु फिर भी इसने ग्रामीण पूर्ननिर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया है। यह लोगों की सामाजिक आर्थिक दशाओं में सुधार करते हुए उन्हें आगे बढ़ाने की प्रेरणा प्रदान की है। और उनके मूल्यों एवं दृष्टिकोणों को बदलने का कार्य भी किया है।[5]

निष्कर्ष–

भारत सरकार की केन्द्रीय विकास योजनाओं में सबसे प्रभावशाली सामुदायिक विकास कार्यक्रम हैं जिसका उद्देश्य ग्रामीण जनता को सोचने–विचारने एवं कार्य करने के तरीकों में बदलाव लाते हुए आत्मनिर्भर बनाना है जिससे ग्रामीण भारत के सभी स्तरों के लोगों का सर्वांगीण विकास हो सके।

संदर्भ सूची–

1. शर्मा ओम प्रकाश, समकालीन महिला लेखन, पूजा प्रकाशन एवं खामा पब्लिशर्स, दिल्ली, पृ0 1
2. पाटिल, अजेय, ''भारत में स्वशासन एवं महिलाएं'', चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर 2013, पृ0 210
3. गुप्ता, कमलेश कुमार, ''भारतीय महिलाएं'' बुक एनक्लेव जयपुर–2005, पृ0 6
4. शर्मा, प्रेम नारायण, संजीव कुमार, ''महिला एवं समग्र विकास'', भारत बुक सेन्टर, लखनऊ 2008, पृ0 17
5. विप्लव, प्रकाशक राहुल महिला सशक्तिकरण : विविध आयाम, पब्लिशिंग हाउस, मेरठ 2013, पृ0 114–115

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

कैशलेस अर्थव्यवस्था और डिजिटलीकरण की चुनौतियां

डॉ० शशि बाला
एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी उ0प्र0

सारांशिका

भारत में वर्ष 2016 के अनुसार लगभग 85 प्रतिशत लोग लेन–देन नकद करते थे जिसका जीडीपी में 67 प्रतिशत एवं श्रम बाजार में 85 से 90 प्रतिशत योगदान था। भारतीय जीडीपी में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का योगदान लगभग 37 प्रतिशत है। जबकि भारत की आधी से ज्यादा आबादी गाँवों में रहती है। इतना ही नही लगभग 85 प्रतिशत लोगों की मजदूरी नकद रूप में मिलती है। इस बात से यह साबित होता है कि भारत की अर्थव्यवस्था नकदी पर किस प्रकार निर्भर है? भारत में डेबिट कार्ड, क्रेडिट कार्ड, यूपीआई, भीम एप, फोन–पे, पेटीएम, एईपीएस, नेट–बैंकिंग, मोबाईल वॉलेट, इत्यादि के द्वारा नकदी रहित भारत (कैशलेस इंडिया) के लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में तीव्र प्रगति दर्ज की गई। कैशलेस अर्थव्यवस्था के लिए डिजिटलीकरण अति आवश्यक है। इसमें विभिन्न चुनौतियां हैं जैसे–लेन–देन का खराब सुरक्षा तंत्र, अपर्याप्त बुनियादी ढाँचा, नेट वर्क कनेक्टिविटी, अशिक्षित आबादी इत्यादि। एक रिपोर्ट के मुताबिक गूगल पे, पेटीएम, फोन–पे, और भीम एप जैसे दूसरे यूपीआई प्लेटफॉर्म पर माह करीब 1.22 बिलियन यानी करीब 122 करोड़ तक का लेन–देन होने लगा है। वहीं अगर वर्ष 2016 यानी 5 साल पहले की स्थिति की तुलना करें तो अब इसमें 550 प्रतिशत का इजाफा हुआ है। 2016–17 में 1004 करोड़ डिजिटल ट्रांजेक्शन किए गए हैं। ये आँकड़ा 2020–2021 में 5554 करोड़ तक पहुँच गया। अप्रैल–मई 2021 में डिजिटल ट्रांजेक्शन 2020 की तुलना में सौ फीसदी अधिक हुआ है। डिजिटल पेमेन्ट इस कोरोना काल में देश के विकास के लिए वरदान साबित हुआ है।

शब्दकोशः कैशलेस अर्थव्यवस्था, डिजिटल, जीडीपी, नेट–बैंकिंग, मोबाईल वॉलेट।

नकदी रहित भारत की शुरूआत प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने की थी। 08 नवम्बर 2016 की रात से भारत में 500 और 1000 रूपये के नोटों को बंद कर दिया गया। यह कदम नकदी रहित अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देने के लिए सरकार का पहला कदम था। दरअसल यह आवश्यक भी था क्यो ंकि भारत में सबसे ज्यादा नकदी संचालन हो रहा था। वर्ष 2014 में यह जीडीपी का 12.42 प्रतिशत था जबकि चीन और ब्राजील में 9.47 प्रतिशत तथा 04 प्रतिशत ही था। नकद संचालन में भारतीय रिजर्व बैंक और वाणिज्यिक बैंकों का सालाना खर्च 21,000 करोड़ रूपए आता था। कैशलेस अर्थव्यवस्था में नकदी का प्रवाह नही के बराबर हो जाए तथा सभी लेन–देन कैशलेस अर्थव्यवस्था में नकदी का प्रवाह नही के बराबर हो जाए तथा सभी लेन–देन डेबिट एवं क्रेडिट कार्ड, तत्काल भुगतान सेवा (Immediate Payment Service- IMPS), नेशनल इलेक्ट्रॉनिक फंड्स ट्रांसफर (National Electronic Funds Transfer-NEFT) और रीयल टाइम ग्रास सेटलमेंट (Real Time Gross Settlement-RTGS) जैसे इलेक्ट्रॉनिक चैनलो ं एवं एकीकृत भुगतान इंटरफेस (Unified Payment Interface- UPI) जैसे भुगतान माध्यमों से होने लगे हैं। वित्तीय वर्ष 2021 में भारत में डिजिटल भुगतान 53 अरब भारतीय रूपये तक पहुंच गया है। यह वित्तीय वर्ष 2018 में 20.7 अरब भारतीय रूपये से उल्लेखनीय वृद्धि को दर्शाता है। कैशलेस भुगतान के विकल्पों में से भारत इंटरफेस फॉर मनी (Bharat Interface for Money- BHIM) ने 2018 के डेबिट कार्ड से भुगतान को पीछे छोड़ दिया।

कैशलेस लेनदेन के प्रकारः

मोबाइल वॉलेट

मोबाइल वॉलेट स्मार्टफोन में मौजूद एक वर्चुअल वॉलेट (आभासी वॉलेट) है, जिसमें पैसे डिजिटल मनी के रूप में रखे जाते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह एक डिजिटल पर्स है, जिसमें से पैसों को निकालकर लेन–देन और भुगतान किया जा सकता है।

प्लास्टिक मनी

प्लास्टिक मनी का तात्पर्य प्लास्टिक से बने उन कार्ड्स से है, जैसे डेबिट कार्ड, क्रेडिट कार्ड,ए टी एम कार्ड आदि से है जिनका इस्तेमाल निकासी एवं भुगतान आदि के लिये किया जा सकता है।

नेट बैंकिंग

किसी भी बैंक द्वारा प्रदान की जा रही सेवाओं का कम्प्यूटर, मोबाइल या किसी अन्य यंत्र के माध्यम से इंटरनेट के जरिये प्रयोग करना नेट बैंकिंग कहलाता है। इसके लिये बैंक वेबसाइट और मोबाइल ऐप बनाकर उसे अपने ग्राहकों को इंटरनेट के माध्यम से उपलब्ध करवाते हैं।

यूनीफाइड पेमेंट इंटरफेस

एकीकृत भुगतान इंटरफेस (Unified Payment Interface- UPI) राष्ट्रीय भुगतान निगम (National Payment Corporation of India) द्वारा आरम्भ की गई लेन–देन की एक नई प्रणाली है जो वर्चुअल पेमेंट एड्रेस (Virtual Payment Address- VPA) का उपयोग कर धन का त्वरित हस्तांतरण सुनिश्चित करती है। यह भुगतान का एक ऐसा माध्यम है जो सातो ं दिन चौबीसो ं घंटे कार्य करता है। इससे धन के लेन–देन में नकदी का चलन कम हो जाएगा तथा व्यापारिक भुगतान सरल सुरक्षित एवं पारदर्शी हो जाएगा।

पेमेंट बैंक

भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा दो प्रकार के लाइसेंस जारी किये जाते हैं, सार्वभौमिक बैंक लाइसेंस (Universal Bank Licence) और विभेदित बैंक लाइसेंस (Differentiated Bank Licence) एक पेमेंट बैंक, विभेदित बैंक लाइसेंस प्राप्त बैंकों की श्रेणी में आता है। पेमेंट बैंक एक विशेष प्रकार के बैंक हैं, जिन्हे कुछ सीमित बैंकिंग क्रियाकलापों की अनुमति है।

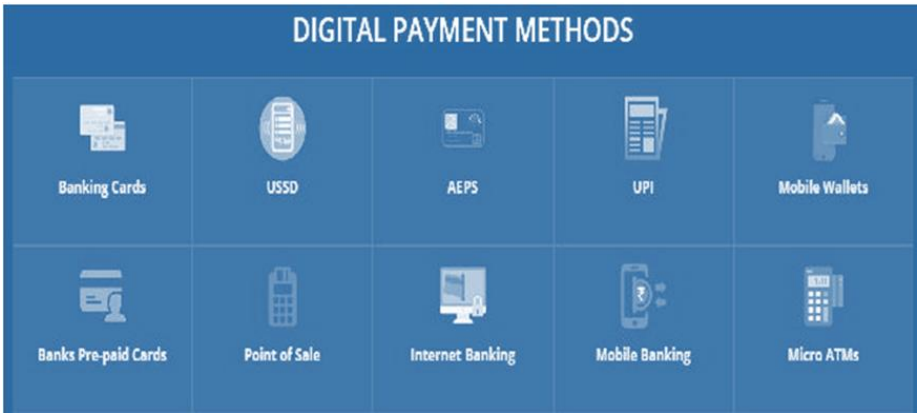

शोध का उद्देश्य

- भारत में कैशलेस अर्थव्यवस्था के प्रसार के बारे में अध्ययन करने के लिए।
- भारत में कैशलेस लेन–देन के प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए।
- भारत के आर्थिक व सामाजिक विकास में कैश लेन–देन की चुनौतियों का विश्लेषण करने के लिए।
- भारत में कैशलेस अर्थव्यवस्था के लागत–लाभ, विश्लेषण का मूल्यांकन करना।

क्रियाविधि (Methodology)

●इस शोध का अध्ययन पूर्ण रूप से वर्णनात्मक प्रकृति का है एवं द्वितीयक आंकड़ों पर आधारित है।

●डेटा प्रामाणिक और विश्वसनीय स्त्रोत, लेख, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर की पत्र–पत्रिकाओं तथा मुख्य रूप से भारतीय रिजर्व बैंक से लिए गये हैं।

कैशलेस (डिजिटल) भुगतान से सरकार और जनता को लाभ

टैक्स चोरी पर रोक

यदि अर्थव्यवस्था कैशलेस होती है तो टैक्स चोरी की घटनाओं में उल्लेखनीय रूप से कमी आएगी। ऐसा इसलिये क्यो ंकि प्रत्येक कैशलेस लेन–देन के प्रमाण डेटाबेस में अंकित हो जाते हैं, जिससे किसी भी व्यक्ति की वास्तविक आय से सम्बन्धित आँकड़े जुटाने में आसानी होती है।

काले धन पर रोक

कैशलेस समाज का एक मुख्य लाभ यह है कि इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के जरिये किया गया आर्थिक लेन–देन ब्लैक मनी के बाजार को खत्म कर सकता है। नकदी आधारित अर्थव्यवस्था में ब्लैक मनी इकट्ठा करना, नशीली दवाओं की तस्करी, मानव तस्करी, आतंकवाद, जबरन वसूली, डकैती आदि जैसे आपराधिक गातिविधियों को अंजाम देना आसान बन जाता है।

लागत में कमी

बैंकिंग सेवा प्रदान करने हेतु किसी स्थान विशेष पर पहुँचने की शर्त खत्म हो जाएगी, इससे ट्रांजेक्शनल (लेन–देन सम्बंधी) मूल्य के साथ–साथ ट्रांसपोर्ट खर्च में भी कमी आएगी। कैशलेस लेन–देन बढ़ेगा तो रिजर्व बैंक को कम नोट छापने होंगे जिससे नोटों की छपाई पर आने वाली भारी लागत को कम किया जा सकता है। साथ ही एटीएम को सुचारू रूप से चालू रखने में बैंकों का होने वाला खर्च भी कम होगा।

जनहितकारी योजनाआं की दक्षता में वृद्धि

जनता के कल्याण हेतु चलाए जा रहे कई कार्यक्रमों की दक्षता बढ़ेगी, क्योंकि धन बिचौलियों के हाथ मे ंजाने के बजाय इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों से सीधे लोगों के बैंक अकाउंट में पहुंचेगा।

बेहतर सुरक्षा

नकद लेनदेन में आपराधिक गतिविधियां अधिक होती हैं, नकद लेन–देन की तुलना में इससे हमें बेहतर सुरक्षा प्राप्त होगी।

कैशलेस भारतीय व्यवस्था और डिजिटलाइजेशन (डायग्राम)

निम्न आरेख (डायग्राम) की मदद से कैशलेस भारतीय व्यवस्था और डिजिटलाइजेशन के विस्तार को समझने का प्रयास करेंगे।

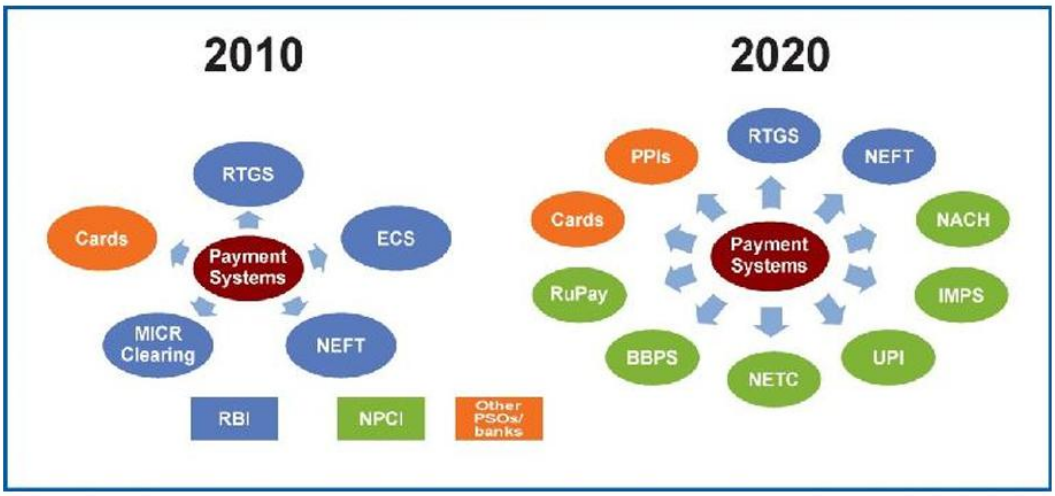

Table 1: India's payment systems



Table 2: Progress made by NPCI in the retail digital payments space

Note - *CTS operations were handed over to NPCI in 2013

Source: RBI Data

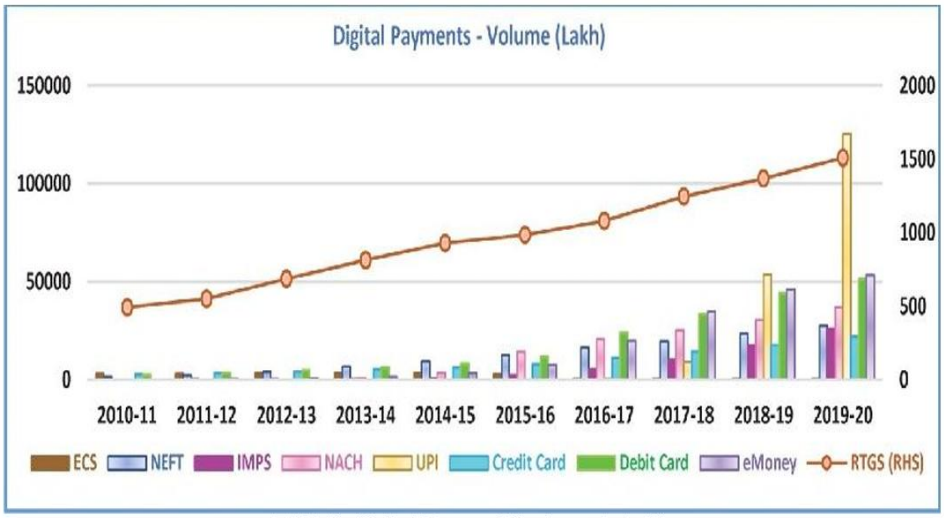

Table 3: Digital Payment Systems in India

Source: RBI Data

कैशलेस (डिजिटल) अर्थव्यवस्था की राह में चुनौतियां

- अधिकांश जनसंख्या बैंकिंग गतिविधियों के बाहर
- असंगठित क्षेत्र का प्रभाव
- साइबर सुरक्षा का मुद्दा
- नेटवर्क कनेक्टिविटी और इंटरनेट की लागत
- लेन–देन प्रभार

निष्कर्ष

भारत की सामाजिक–आर्थिक विशेषताओं को देखते हुए, डिजिटल भुगतानों की आर्थिक प्रणाली को प्रोत्साहित करना चुनौतीपूर्ण कार्य है और यह ई–भुगतानों, सुदृढ़ ऑनलाईन बैंकिंग तंत्रों, नकदी रहित लेन–देन को प्रोत्साहित करने और देशव्यापी डिजिटल लेन–देन तंत्र के सफलतापूर्वक कार्यान्वयन के लिए एक रोडमैप की आवश्यकता को दर्शाता है। विमुद्रीकरण के बाद डिजिटल भुगतान में हुई वृद्धि को वर्तमान की चुनौतियों और भविष्य की अपेक्षाओं पर खरा उतरने के लिए सभी हितधारकों के पूर्ण समर्थन की आवश्यकता है। जैसे–जैसे अवसरों में वृद्धि होती है, वैसे ही चुनौतियां भी बढ़ती हैं। सामने वास्तविक और कई जटिल अवरोध हैं जिनका समाधान किया जाना है ताकि भारत को एक नकदी रहित समाज के रूप में परिवर्तित किया जा सके। भुगतान परिदृश्य की नई कम्पनियों द्वारा प्रौद्योगिकी को अपनाए जाने के लिए विनियामक ढांचों को संशोधित और अद्यतन बनाया जा रहा है। ऐसे में सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँचाए जा सकने वाली डिजिटल संरचना के विकास और प्रदाताओं के बीच अंतर–संचालनात्मकता और प्रतिस्पर्धा तथा नागरिकों के बीच वित्तीय क्षमता भी सुनिश्चित करने के लिए निजी क्षैत्र के साथ सहयोग कर सकती हैं। यद्यपि पूर्णतया नकदी रहित अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर होने में समय लगेगा, तथापि क्रमिक कदम लोगों का विश्वास जीत सकते हैं और मध्यम अवधि में भारत को एक कम नकदी का प्रयोग करने वाले समाज में परिवर्तित कर सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Website- cashlessindia.gov.in , niti.gov.in
2. लोक सभा सचिवालय, शोध और सूचना प्रभाग, दिसम्बर 2017
3. RBI, Payment and Settlement Systems in India, Booklet 2010-20
4. राजस्थान सुजस, सूचना जनसम्पर्क विभाग, जयपुर (सितम्बर–अक्टूबर 2020, नवम्बर–दिसम्बर 2021)
5. वित्त मंत्रालय, भारत सरकार की प्रकाशित रिपोर्ट 2020 व 2021
6. The World Bank, RBI, SBI, की 2020 व 2021 की वार्षिक रिपोर्ट।
7. TFIPOST.in Pooja Maurya, Aligarh Muslim University, Aligarh News Channel,
8. BBC, Aaj Tak, News Nation, Zee Business etc. योजना फरवरी 2017,
9. दृष्टि The Vision, मार्च 2020 से दिसम्बर 2021 तक
10. दैनिक भास्कर, पत्रिका, Financial Express, Times of India आदि से सम्बन्धित विशेष लेख, टिप्पणीयाँ एवं सम्पादकीय से एकत्रित की गई सामग्री।

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

भारत की लोक परम्पराओं में त्यौहारों का महत्व–एक विश्लेषण

महेन्द्र कुमार मिश्र
शोधार्थी प्राचीन इतिहास, संस्कृति, कला एवं पुरातत्त्व विभाग
श्री महन्थ रामाश्रय दास स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भुड़कुड़ा, गाजीपुर (उ0प्र0)

प्रस्तावना–

भारत विश्व की सबसे पुरानी संस्कृति वाला देश है और इसकी सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी मानी जाती है। अखिल विश्व गायत्री परिवार संगठन के अनुसार इसे सर्व प्रथम संस्कृति विश्ववर के रूप में प्रबुद्ध किया गया है जिसका अर्थ है विश्व में प्रथम और सर्वोच्च संस्कृति का अस्तित्व वाला देश। अनेकता में एकता को न केवल शब्दों के रूप में माना जाता है बल्कि ये इसकी अविश्वसनीय समृद्ध संस्कृति एवं विरासत को उजागर करने के लिये एक माध्यम का कार्य करते हैं।

त्यौहारों का धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक महत्व हमारी भारतीय संस्कृत में निर्दिष्ट है। ऐसी अनुलिपिया भारतीय समाज को एकरूपता के संगठन में उद्वेलित करने में सक्षम रहती हैं। त्यौहारों की धार्मिकता व उनसे उच्चारित आध्यात्मिकता हमारी भारतीय संस्कृति को, समाज के लिए महत्वपूर्ण और उपयोगी बनाती हैं। ऐसे में भारतीय समाज के लिए त्यौहारों का बहुत बड़ा महत्व है क्योंकि हमारा भारत देश एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में प्रसिद्ध है। हमारा देश विभिन्न प्रकार की विविधताओं से युक्त है, ऐसी परिस्थितियों में जितनी विविधता है, उतनी तरह के त्यौहार (पर्व) हमारे देश में मनाए जाते हैं। भारतीय त्यौहार लोक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसे सांस्कृतिक विरासत के रूप में देखा जाता है, सांस्कृतिक परम्परा मानवीय मूल्यों को उत्पादित करने के लिए बनाई जाती है। भारतीय देव संस्कृति प्राचीनकाल से ही परंपराओं व संस्कारों का समावेश रही हैं। इनमें संस्कार, सदैव ही मानव जाति के लिए व सभी जीव जंतुओं के लिए समान रूप से मानवीय मूल्यों से संकल्पित रहता है। त्यौहार भारतीय समाज में मानवीय मूल्यों के प्रचार–प्रसार को भी प्रस्तुत करते हैं क्योंकि इनकी उपयोगिता सांस्कृतिक, मानवीय, आध्यात्मिक स्तर पर भी आच्छादित रहती है। संस्कारों ऐसे में इनकी उपरोक्त उपयोगिताओं को किसी भी स्तर से नकारा नहीं जा सकता है। त्यौहारों के माध्यम से ही हम अपनी परंपराओं को भी संरक्षित रख सकते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में इन्हीं परम्पराओं को स्थानांतरित कर सकते हैं। यही कारण है कि धार्मिकता को बनाए रखने के लिए भी त्यौहारों की आवश्यकता होती है क्योंकि इनके माध्यम से ही व्यक्ति के भीतर अनुशासन का अनुपालन भी होता है। हमारी संस्कृति समाज में सामाजिक मूल्यों को संरक्षित रखने में धर्म, अध्यात्म, संस्कारों तीनों का बराबर महत्व रहता है। संस्कृति व परंपरा को दिए गए वर्तमान महत्त्व के कारण ही त्यौहार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में अपने स्वरूप के बदलाव के बावजूद भी अभिव्यक्ति स्तर पर, अपने मूल क्षेत्र को कभी भी विस्मरण नहीं कर पाते हैं, जिस कारण से त्यौहारों का प्रभाव मानव जीवन पर विशेष रूप से पड़ता है। वर्तमान समाज को भी बतीत की अभिव्यक्ति के रूप में, वैश्विक दृष्टिकोण के आधार पर, त्यौहारों के माध्यम से अपने पूर्व संस्कृति को जानने का अवसर प्राप्त हो पाता है, जो सीधे तौर पर सद्भाव के साथ रहने वाले लोगों को एक दूसरे से जोड़ता है। अधिकतर हम इसे परंपरावादी दृष्टिकोण से अनुकल्पित करते हैं जो स्पष्ट रुप से संस्कृति के आलोचनात्मक और संशोधित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। किसी भी संस्कृति को समझने के लिए एक विशेष पारंपरिक दृष्टिकोण होना चाहिए, ताकि संस्कृति को हम लोग उत्सव से जोड़कर देख सकें और सांस्कृतिक भावनाओं को लोगों के मानवीय मूल्यों से संदर्भित कर सकें। जिससे बहुसंस्कृति वादी दृष्टिकोण मानव जाति के भीतर संश्लेषित हो

सके। हालांकि इन त्यौहारों का उद्देश्य सामाजिक एकीकरण के समर्थन को प्रस्तुत करता है। संस्कृति के अपने संशोधित दृष्टिकोण के कारण ही वह वास्तव में सामाजिक निर्माणों को वैध बनाने में योगदान उपलब्ध कराता है, जो विभक्तवादी व दोषपूर्ण मानवीय विचारों को पदानुक्रम करते हुए विस्थापित करता है। ऐसी परिस्थितियों में दूषित विचारों को सुविचारों के माध्यम से पदानुक्रम करना ही त्यौहार का मूल उद्देश्य होता है और धार्मिक विविधताओं को प्रकट करते हुए त्यौहार, मूल रूप से व्यक्ति को एकीकृत भावनाओं से निर्दिष्ट करने का कार्य करते हैं। 95 त्यौहारों का कार्य मुख्य रूप से मानव जाति के भीतर अंतः क्रिया की संभावनाओं को विकसित करना है, जो उनके भीतर दैनिक जीवन में नहीं प्रत्यक्ष हो पाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि त्यौहार केवल प्रथम संस्कारित भावनाओं का ही स्वरूप नहीं है बल्कि सारगर्भित मानवीय मूल्यों से उत्पन्न हुए, एक विशेष प्रक्रिया का रूप है जो मानव जाति के भीतर सौहार्द की भावना को जागृत करते हैं। जिससे समाज के भीतर एक नवाचार और सांस्कृतिक भावनाओं का विकास होता है, जिससे सामाजिक गतिशीलता को बल मिलता है और उनकी कार्यप्रणाली में भी काफी सुधार आता है। त्यौहार सदैव से ही युवाओं को अपनी ओर आकर्षित करते हैं ऐसी परिस्थितियों में सामान सामाजिक मूल्य ही उनके भीतर आधार के रूप में जन्म लेते हैं। त्यौहार अपने भीतर अनुशासनात्मक नियमों से उच्चारित रहते हैं जिस कारण से युवा वर्ग के भीतर किसी भी कार्य के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण को संचारित करने में सक्षम रहते हैं और उन्हें अपने देश व अपनी प्राचीन सभ्यताओं को नजदीक से जानने का अवसर भी प्राप्त होता है। कुछ अंतरराष्ट्रीय त्यौहार व कार्यक्रम समाज में वहुसांस्कृतिक संचार के लिए एक मंच प्रदान करते हैं। सांस्कृतिक घटनाओं में शामिल विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियां, जो लोगों को पूरे दिन एक साथ बिताने, बात करने और विचारों का आदान प्रदान करने के लिए प्रेरित करती हैं ताकि उनके भीतर सामाजिक समरसता की भावना का विकास हो सके। सांस्कृतिक घटनाओं में शामिल विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोग जो किसी भी सांस्कृतिक त्यौहार में पूरे दिन एक साथ समय व्यतीत करने, विचारों का आदान प्रदान करने और सहयोग की भावना से प्रेरित होते हैं, उनके द्वारा आयोजनों की सुदृद्ध परंपराओं का विकास संभव हो पाता है। त्यौहारों व आयोजनों की अंतरराष्ट्रीय रूपरेखा, जो अंतरराष्ट्रीय सहयोग और विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं वाले लोगों के विचारों को आदान–प्रदान के माध्यम से जन्म देने में सक्षम रहती है।

धार्मिक उत्सव और उनका महत्व–

भारत की संस्कृति काफी पुरातन समय से अपनी धार्मिकता के लिए जानी जाती है, जो दुनिया भर में उच्च स्तर के सम्मान में योगदान करती है। यह धार्मिक परंपरा बहुत पुरानी है जो भारतीय सभ्यता की पीढ़ियों से चली आ रही है और इसकी निरंतरता पूर्व–वैदिक युग से ही अपने मूल रूप में संरक्षित है। पूरे भारतीय इतिहास में, आध्यात्मिकता को मानवीय उपलब्धि का शिखर माना गया है। धार्मिक आधार पर उत्सव की उत्पत्ति एक विश्लेषण के रूप में हुई अर्थात पर्व का अर्थ उत्साह या उत्सव के रूप में माना जाता है। सामाजिक समारोहों में या अपनी खुशी को प्रकट करने हेतु लोग किसी विशेष दिन, विशेष मौसम या विशेष तिथि को सामाजिक रूप से एकत्रित होकर, एक हर्षित सार्वजनिक उत्सव या आनंद उत्सव मनाते है। यही त्यौहार का एक सघन रूप है। आमतौर पर इस तरह के उत्सव में दावत भी शामिल होती है। जब अलौकिकता के प्रभाव के कारण एक त्यौहार बुराई से मुक्त के साधन के रूप में प्रार्थना/ प्रसाद के संस्कारों व समारोहों को धारण करता है। तब ऐसी परिस्थिति में त्यौहार को धार्मिकता की भावना से प्रेरित माना जाता है और ऐसी परिस्थितियों में हम उसे धार्मिक त्यौहार कहते हैं। भारत में त्यौहार ज्यादातर धर्म और मान्यताओं की निरंतरता पर आधारित होते हैं, धर्म प्राचीनता से जन्म लेता है, प्राचीनता हमारी सभ्यता के विकास को प्रकट करती है या उसकी आधार का प्रतिरूप होती है। ऐसी परिस्थितियों में धार्मिक मान्यताओं के प्रभाव के कारण हम अपने धर्म के विकास को फलीभूत होते जान पाते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों व प्राचीनता से प्रेरित व्यवहार ही हमें धार्मिक रूप से विक्षिप्त या विभाजित करते हैं। मान्यताओं का प्रभाव कहीं ना कहीं त्यौहारों को उनकी

प्राचीनता से जोड़ता है। ज्यादातर धार्मिक अनुकृतियां ही त्यौहार के जन्म का कारण बनती है। जिसमें अलग–अलग धर्मों के आधार पर उनकी सभ्यताओं व नियमों का उल्लेख होता है। अलौकिकता के कारण ही अनुष्ठानों व समारोहों का निगमन होता है। पुजारी द्वारा अत्यधिक नियमित व परिष्कृत अनुष्ठान व समारोह आयोजित किए जा सकते हैं लेकिन समूह स्तर पर, अन्य अनौपचारिक विसंगतियों को दार्शनिक किए जाने की परंपरा होती हैं, यही कारण है कि धार्मिक त्यौहारों में अलग–अलग देवी–देवताओं का पूजन व अर्चन किया जाता है। उदाहरण के तौर पर दीपावली का त्यौहार एक ऐसा त्यौहार है जिसमें त्यौहार की प्राचीनता के कारण ही अनुष्ठान को त्यौहार में शामिल किया गया है। एक विशेष दिन या तिथि के आधार पर दीप प्रज्वलन के द्वारा हम प्रभु श्री राम के बुराई पर अच्छाई की जीत के पश्चात अयोध्या वापसी की खुशी को प्रकट करने के लिए करते हैं। अनुष्ठान से प्रेरित होने के कारण उक्त दिन हम भगवान गणेश और लक्ष्मी का पूजन अर्चन करते हैं और भोग लगाते हैं, इस प्रकार हम यह पाते हैं किसी भी त्यौहार में धार्मिकता से होने वाले प्रभाव के कारण ही उत्सव के साथ अनुष्ठान की परंपरा शामिल है। इसी प्रकार महाशिवरात्रि के त्यौहार के दिन लोग उपवास करते हैं और अनुष्ठान के रूप में भगवान शिव का पूजन अर्चन करते हैं और उनका जलाभिषेक करने की परंपरा का पालन करते हैं। त्यौहारों में धार्मिकता के प्रभाव के कारण ही सामाजिक विभाजन आया है। सामाजिक विभाजन का दायरा जातिगत होता है। इस जातिगत विभाजन के फल स्वरुप त्यौहारों के नाम में भी परिवर्तन है और त्यौहारों में बनने वाले पकवानों में भी भिन्नता है। धार्मिकता का सभ्यताओं के विभाजन के फलस्वरुप समाज में परिवर्तन आया है। यह विभाजीकरण भौगोलिक परिस्थितियों के अधीन रहता है क्योंकि भौगोलिक परिस्थितियां त्यौहार के आचरण में परिवर्तन लाने के लिए सक्षम रहती हैं।

समुदाय और भागीदारी का त्यौहार के महत्त्व पर प्रभाव

समाज में एक परिवर्तनकारी क्षण के रूप में उत्सव का विचार इस बात से रेखांकित होता है कि किस हद तक त्यौहार को सामुदायिक भावना व भागीदारी से विकसित करने की आवश्यकता होती है। विशेष रूप से त्यौहार सामाजिक एकता को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। एक निर्माता ने अपने शब्दों में कहा है कि त्यौहार का विचार समुदाय में सामाजिक सामंजस्य बनाता है किंतु समुदाय के सदस्यों के बीच में संबंधों की मधुरता का आधार निर्धारित करता है और उन्हें एक समूह विशेष की पहचान से संश्लेषित करता है। समुदाय की संश्लेषित पहचान किसी भी त्यौहार के प्रति उनकी धार्मिक एकजुटता को प्रदर्शित करना है जो समाज में, छात्रों में भी, स्वयं को विस्तारित करने में सक्षम होती हैं। त्यौहारों के सामाजिक उपभोग और अधिक व्यक्तिगत रूपों को अग्रसारित करने की आवश्यकता होती हैं। विशेष रूप से आधुनिक युग में सामाजिक प्रत्यक्षीकरण को सांस्कृतिक अनुकूलता से जोड़ने की आवश्यकता है जो कि सामाजिक प्रक्रियाओं को विकास की प्रक्रिया के साथ साझा करने, संवाद करने व खुद को विकसित करने हेतु, स्वयं को भी आधुनिक विचारों से संचारित करने की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि वैयक्तिकरण हमें सामूहिकता में रुचि प्रदान करता है और त्यौहारों में भागीदारी, हमे सार्वभौमिकता की ओर ले जाती है, जबकि भाग लेने वालों की संख्या एक बड़े सामाजिक एकीकरण को प्रदर्शित करती है। किसी विशेष त्यौहार के लिए उसकी दृष्टिगत संरचना को समाज द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन दिया जाना चाहिए ताकि सामाजिक मूल्यों के प्रति लोगों की धारणाओं को सकारात्मक किया जा सके। वास्तविक रूप से त्यौहार किसी ना किसी उद्देश्य के कारण ही विशेष रूप में मनाए जाते हैं। यह उद्देश्य समाज के लिए एक सकारात्मक व उपदेश युक्त जीवन मूल्यों का प्रतिरूप होते हैं, जो व्यक्ति के भीतर आस्था को संतुलित बनाए रखते हैं और व्यक्ति में अलौकिकता के प्रति सकारात्मक आचरण की आवश्यकता पर बल देते हैं। विभिन्न संस्कृतियों को प्रतिबिंबित करने वाले उद्देश्य, एक विस्तृत श्रृंखला के रूप में विभिन्न समुदायों के साथ अप्रत्यक्ष रूप से संबाद करने का प्रयास करती है। समाज में जनित समुदाय एवं समुदाय से जुड़े हुए लोगों का अपनी भागीदारी को लेकर सामाजिक अनुशासन को संतुलित रखना अति आवश्यक होता है। समाज में मौजूद विभिन्न जातियों अपने

अलग–अलग वैचारिक अंतर के माध्यम से त्यौहारों में विभेदीकरण को प्रदर्शित करते हैं, जो समुदायों को अपने लिए भौगोलिक प्राप्त स्थिति में परिवर्तन करने पर विवश करते हैं। यह कभी भी नहीं हो सकता कि त्यौहार का विस्तारीकरण समुदायिक आधार पर ही हो, चुकि त्यौहारों का विभेदीकरण किसी भी दशा में समुदाय आधारित नहीं बल्कि धर्म के आधार पर जनित माना जा सकता है, जिसमें किसी विशेष कला को उस समुदाय के माध्यम से प्रदर्शित किया जा सकता है ताकि त्यौहार या उत्सव को एक निश्चित आकार में, निश्चित कार्य के माध्यम से बनाया जा सके। वह अपनी सांस्कृतिक जड़ों को समुदाय से जोड़कर प्रदर्शित करता है। त्यौहार विभेदीकरण की स्थितियों के अनुसार अपने आचरण में बदलाव लाते हैं, जिसमें नृत्य, कला, संगीत, मनोरंजन, खेल इत्यादि का भी समावेश होता है जिस कारण से भौगोलिक विभेदीकरण के फलस्वरुप, त्यौहारों में बनाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के पकवानों में भी अंतर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। किसी भी त्यौहार के लिए स्वयं की एक विशेषता होती है। जिस कारण से वह अपने को उक्त समुदाय व उसमें भाग लेने वाले लोगों के प्रति अलग मानक का निर्धारण करता है। धार्मिक त्यौहार कभी भी उत्प्रेषण को समायोजित करने में अपनी भूमिका नहीं निभाता, उत्प्रेषण सदैव से मतभेद को जन्म देने वाले होते हैं और त्यौहार कभी भी समाज में मतभेद को जनित नहीं करता है। यही कारण है कि त्यौहार समुदाय के आधार पर अपनी भौगोलिक परिस्थितियों को भी प्रदर्शित करता है फिर वह चाहे स्थानीय हो, क्षेत्रीय हो, प्रादेशिक हो या फिर अंतरराष्ट्रीय हो। अपनी धार्मिक संरचना के आधार पर त्यौहार कभी भी एक सामान्य समूह के लिए अपनी उन्मुखता को प्रकट नहीं करता है। वह सदैव एक विशेष समुदाय के लिए अपने अनुभवों को दर्शाता है जो उसके द्वारा जनित सांस्कृतिक उत्पादकों को प्रत्यक्ष रूप से समाज में परिलक्षित करता है। किसी भी त्यौहार की लोकप्रियता को सार्वजनिक प्रशासन में समाज द्वारा एक लाभ के रूप में नहीं देखा जा सकता है क्योंकि बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक नीतियां त्यौहारों की परिप्रेक्ष्यों को अनुकल्पित नहीं करती बल्कि वह प्रति क्षमता में सांस्कृतिक निर्माण के माध्यम से त्यौहारों को समाज में प्रकट करने के लिए सकारात्मकता जनित उद्देश्य को पूरा करते हैं।

त्यौहारों की आध्यात्मिकता और सामाजिक एकीकरण

प्राचीनकाल से ही त्यौहारों के माध्यम से समाज में आध्यात्मिकता का समावेश है जो लोगों में सकारात्मक मानवीय मूल्यों को विकसित करने में सक्षम रहती है और सामाजिक एकीकरण की भावना का विकास करती है। जबकि आध्यात्मिकता को आकार देने के लिए त्यौहारों का उपयोग अनिवार्य रूप से, सांस्कृतिक भेद की एक प्रक्रिया मात्र है। ऐसी पहचान किसी भी समाज के इर्द–गिर्द एक महत्वपूर्ण सामंजस्य स्थापित करने के लिए तत्पर रहती है जहां पर स्थानीय समुदाय के माध्यम से सामाजिक व सांस्कृतिक अंतरों को सीमित करना ही वास्तविक कार्य है। त्यौहारों के एकीकरण पर विशेष बल देने हेतु लोक प्रशासन द्वारा उन लोगों की प्रवृत्तियों के विपरीत, त्यौहार को एकीकरण के एकमात्र साधन के रूप में देखना चाहिए, जो समाज को एक धागे में पिरोने के लिए सक्षम रहता है। अतः ऐसे में त्यौहार के आयोजकों के लिए सामाजिक एकीकरण की बात करना उनका संचयन मात्र है। वैश्वीकरण के परिणामों के फलस्वरुप त्यौहार अपनी सांस्कृतिक एवं प्राचीन मान्यताओं को भूलते जा रहे हैं क्योंकि आधुनिकता ने त्यौहारों पर अपने गुणों को संग्रहित कर दिया है। अतः कुछ आप्रवासन विधाओं के माध्यम से भारत वर्ष में त्यौहारों के मनाने की प्रवृत्तियों में एक बड़ा परिवर्तन आया है, जिससे पिछली पीढ़ियों द्वारा जनित सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से, यथोचित रूप में त्यौहारों की सामाजिक मूल्यों से प्रेरित अनुलिपियों में सक्षम प्रवर्तन स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है और क्योंकि भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही विभिन्न धार्मिक समुदाय के लोगों ने बाहर से लाई हुई संस्कृति को भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति के साथ समावेशित किया है। अतः ऐसी परिस्थितियों में त्यौहारों के आचरण में परिवर्तन निश्चित रूप से अकल्पित होगा। प्रवासियों की नवीनतम विचारधाराएं सांस्कृतिक रूप से, सामाजिक रूप से, भारत के प्राचीन त्यौहारों में बदलाव लाने में सक्षम रहती है, जो भारतीय सांस्कृतिक कार्यक्रमों को अपने आचरणों

में डालने का प्रयास करती है। अतः ऐसी परिस्थितियों में स्थानीय समुदाय में सामाजिक एकीकरण का संचालन होना संभव होता है। यही कारण है कि त्यौहारों को उनकी सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ संरक्षित करने के लिए एक साधन के रूप में देखा गया। लोक प्रशासन एवं प्राचीन त्यौहार से जुड़ी संस्कृतियों, जो विशेष रूप से **कैटल** द्वारा रचित संस्कृतियों से समानता प्रदर्शित करती हैं. वह सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया पर पूर्ण प्रभाव को दर्शाती है। शहर के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने के लिए सामाजिक एकीकरण एवं सामाजिक सामंजस्य को बढ़ाना अति आवश्यक हो जाता है और इन्हें बढ़ाने में त्यौहारों का एक बड़ा योगदान रहता है, जो लोगों को आपसी सौहार्द बनाए रखने के लिए प्रोत्साहित भी करती हैं। एक नीतिगत तंत्र के रूप में उन्हें समाज निर्माता के परिदृश्य में परिलक्षित करती हैं। त्यौहारों के सांस्कृतिक उत्पादों एवं संघों द्वारा काफी सुसंस्कृत दृष्टिगोचर को आलंबन की प्रक्रिया में निर्धारित किया गया, ताकि सांस्कृतिक कार्यक्रमों के मंचन में सार्वजनिक स्थान द्वारा ली गई महत्वपूर्ण भूमिका आंशिक रूप से सामाजिक एकीकरण की व्यवस्थाओं से त्यौहार को प्रतीक के रूप में प्रदर्शित हो सके और समाज में एकीकरण के प्रतिबिंव को निर्धारित किया जा सके। आरंभिक वर्षों में सार्वजनिक त्यौहारों की विविधताओं व सीमाओं में नाटकीय ढंग से वृद्धि को निमित्त किया गया क्योंकि **कैटल** ने अपनी सांस्कृतिक अनुवृत्तियों को सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित करने के लिए प्राप्त हुई सांस्कृतिक स्वतंत्रता को पूरी तरह से लाभान्वित किया। किसी भी त्यौहार सुसंस्कृत अवसरों को आपसी साझा करते हुए सार्वजनिक स्थानों पर, लोगों को एक साथ लाने का प्रयास, **राजा राममोहन राय** द्वारा किया गया, ताकि भारतीय संस्कृत का पुनरुत्थान हो सके और समाज के परिवेश में भारतीय संस्कृति एक सुदृढ़ आधार के रूप में संरक्षित हो सके। हालांकि कुछ उत्तरदाताओं ने इस बात पर संदेह किया कि वह वास्तव में त्यौहार के दौरान लोगों को एक साथ लाने में वास्तव में व्यापक भारतीय समाज में सामंजस्य विकसित हुआ है किंतु सामाजिक एकीकरण के प्रयास समानांतर घटनाओं के आयोजनों की ओर लक्ष्य किए जाते हैं। तथा अलग– अलग जनसंख्या समूह में अलग–अलग घटनाओं के कारण त्यौहारों की उत्पत्ति हुई है एवं इसी उत्पत्ति के आधार पर ही अलग–अलग जनसंख्या समूह त्यौहार को अपने आकर्षण से प्रत्यक्ष कर पाते हैं। जिस कारण से आपसी मिश्रण की संभावना बहुत ही कम रह जाती है। लोगों के बीच वास्तविक संपर्क होने के लिए वैचारिक समानता अति आवश्यक है। वैचारिक समानता ही लोगों में एक दूसरे के प्रति सौहार्द की भावना विकसित करती है। घटना आधारित त्यौहार मुख्य रूप से एक सामाजिक समूह द्वारा दूसरे सामाजिक समूह में दृश्य संपर्क के माध्यम से पारगम में होते हैं उनका उतना ही सीमित आधार है जितने में बहुत सांस्कृतिक आकार का एक सामाजिक समूह स्वयं में अपने लिए धार्मिक आधार पर, त्यौहारों को निर्धारित करें। सामाजिक स्तर पर सांस्कृतिक संरचनात्मक आधार पर प्रयोगों करने के बजाय अधिकांश स्थानों पर पारंपरिक संरचनाओं के भीतर अप्रवासी समूहों के एकीकरण को बढ़ाने की प्रवृत्ति ही त्यौहारों को मानव से जोड़ने का प्रयास करती है।

निष्कर्ष –

वर्तमान समय में आयोजित प्रमुख त्यौहारों की गतिविधियों को देखकर स्वतः ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि प्राचीनकाल में कौन–कौन से प्रमुख त्यौहार मनाये जाते थे। तथा उनका क्या स्वरूप था? क्या इन्हें ऋषिमुनियों और विद्वानों ने यूंही बना दिया है या उन मान्यताओं के पीछे कोई वैज्ञानिक रहस्य भी छिपा है? त्यौहारों का मनाया जाना तथा देवी–देवताओं का पूजन आदि क्या केवल धार्मिक मान्यताओं के अनुसार ही किया जाता है? क्या इनके पीछे कोई रहस्य भी है? वे रहस्य वैज्ञानिक दृ ष्टिकोण से उचित है या अनुचित। प्रकृति संतुलन में इनका क्या योगदान है तथा मानव समाज के अलावा अन्य प्राणियों पर इनका क्या प्रभाव है इत्यादि।

वर्तमान विज्ञान की नई–नई खोजों ने मनुष्य को तार्किक अवश्य बनाया परन्तु दूसरी ओर वर्तमान युवा पीढ़ी को इतिहास की प्राचीनता पर भी संदेह होने लगा हैं। 21वीं शताब्दी के इस

भूमण्डलीकरण के प्रतिस्पर्धात्मक युग में युवा पीढ़ी त्यौहारों को हर्षोल्लास एवं उमंग से मनाती हैं। परन्तु क्या वे इनके महत्व को भी समझ पा रहे हैं? इसके महत्व से भी युवा पीढ़ी को अवगत कराना एवं मानव समाज में एक नवीन चिन्तन का विकास कर नैतिक मूल्यों का स्थापित करने का प्रयास आवश्यक है जिससे वर्तमान में पूरे विश्व को त्यौहारों के इतिहास एवं इसके महत्व से अवगत कराकर अतीत के स्पर्श की अनुभूति कराना परमावश्यक है।

संदर्भ सूचीः–

1. जैन रोशनलाल– हमारे पर्व एवं त्यौहार, देवनागरी प्रकाशन, जयपुर।
2. बैट्सिलिस जी विट– घर–घर पूजित हिन्दू देवी–देवता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. मिश्रा सुनील–हिन्दुओं के पर्व एवं त्यौहार, महालक्ष्मी प्रकाशन, दिल्ली।
4. व्यास निर्मला– आओ पर्व मनायें, शिल्पी प्रकाशन, जयपुर।
5. चोपड़ा पी0एन–सोसाइटी एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन सोसाइटी।
6. भारतीय त्यौहार और संस्कृति– https://lekhsagar.in/indian-culture-and-importance-of -the-festivals/
7. कल्याण–मासिक पत्रिका, गीता प्रेस गोरखपुर, विभिन्न संस्करण।
8. अखण्ड ज्योति–मासिक पत्रिका, विभिन्न संस्करण, युग निर्माण योजना शान्तिकुंज हरिद्वार।
9. विभिन्न दैनिक समाचार पत्र।

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

उत्तर प्रदेश के कोल जनजाति का सामाजिक–आर्थिक परिदृश्य : एक समीक्षात्मक अध्ययन

सुष्मिता सिंह
शोध छात्रा समाजशास्त्र विभाग
स्वतंत्रता संग्राम सेनानी विश्राम सिंह राजकीय पीजी कॉलेज चुनार मिर्जापुर

प्रस्तावना : *आदिवासी हमारी ही तरह प्रकृति के अनुपम उपहार है। वह हमारे ही समाज के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अंग है। वह तथाकथित सभ्य कहें जाने वाली जातियों से अधिक सभ्य है। आदिवासी समाज में देश – प्रेम, जाति प्रेम और संस्कृति प्रेम कूट–कूट कर भरा होता है। इतिहास साक्षी है कि अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये और अपनी स्वाधीनता के लिये इस समाज ने अनेक युद्ध किये है। छल, कपट से दूर सीधे–सरल स्वभाव से ओत–प्रोत एवं आपस में भाई–चारे की भावना तथा अपनेमन की भावना से ओत–प्रोत होते है। आदिवासी समाज आज भी प्रकृति के उर्पाजनों यथा–जल, जंगल, जमीन की अस्मिता के लिये प्रण–प्राण से न्यौछावर है। संस्कृति सभ्यता उनकी अनमोल धरोहर है और उनकी भाषा में उनका जीवन बसता है, इस प्रकार आदिवासी कहने में एक ऐसे परिवार या समूह का बोध होता है, जिनकी स्वयं की भाषा, संस्कृति एवं एक सुनिश्चित भू–भाग होता है, जिनमें वे परम्परागत विधि – विधानों से परिपूर्ण स्वतंत्र सुरक्षात्मक संगठन के जरिये अपने समाज का संचालन करने मे समर्थ होते है।*

मुख्यशब्द :– आदिवासी, समाज, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, आर्थिक स्थिति आदि।

उत्तर मध्य भारत की प्रायः सभी जनजातियाँ प्रोटो–आस्ट्रेलायड प्रजाति लक्षणों को प्रस्तुत करती है। इनका एक प्रतिनिधि समूह या प्रकार ''कोलोरियन'' कहा गया है। कोलोरियन के अन्तर्गत मुण्डा हो सन्थाल जुआँग आदि आते है। 'कोल' भी इसी प्रजाति समूह प्रजाति समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका मुख्य आवास क्षेत्र मध्य प्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश के औपचारिक क्षेत्र है। कोल जनजाति पर एक मात्र ग्रिफिक की पुस्तक 1946 में प्रकाशित हुई थी। यह मध्य भारत क कोल का आदर्श जीवन प्रस्तुत करता है।

यह उल्लेखनीय तत्व है कि उत्तर प्रदेश सरकार ने कोल जनसमूह को ''अनुसूचित जाति'' की श्रेणी में रखा है। अन्य राज्यों में जैसे मध्य प्रदेश, बिहार इसे अनुसूचित जनजाति मानते हैं। उत्तर प्रदेश में इनकी जनसंख्या वर्ष 1971 में 1,35,617 थी। जो 1981 में बढ़कर 1,51,818 हो गई, 1991 में 1,70,910 तथा वर्ष 2001 व 2011 के जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या क्रमशः 190, 205 व 199, 102 आँकी गई हैं।

कोल क्षेत्र –

उत्तर प्रदेश के दक्षिण और दक्षिण पूर्वी जिलों में जैसे इलाहाबाद, मिर्जापुर, बाँधा, सोनभद्र और वाराणसी मे निवास करते है। इलाहाबाद में इनकी जनसंख्या सबसे अधिक हैं।

भाषा –

कोल की मूल भाषा के लाक्षणिक तत्व विलुप्त हो गए है। अब इन्होंने स्थानीय भाषा हिन्दी के अन्तर्गत विभिन्न बोलियों को ग्रहण कर लिया है। कोल और गैर कोल की बोलियों में कोई स्पष्ट अन्तर नही किया जा सकता है। ये पड़ोसी हिन्दी भाषी क्षेत्रों की बोलियों को अच्छी तरह से समझते और बोलते हैं।

शिक्षा –

यद्यपि कोल स्थानीय समूह के साथ घुल मिल गए है, इनकी शिक्षा दर न्यूनतम है। इस सम्बन्ध में जनगणना पुस्तिका मे कोई आकड़े उपलब्ध नहीं है। गाँवों के क्षेत्रीय अध्ययन से जो तथ्य सामने आये है उनसे यह प्रतीत होता है कि कोल समुदाय के कुछ ही लोग पढ़े – लिखे है, परन्तु वह पढ़ाई भी सिर्फ कुछ ही लोगों द्वारा की गई है, ये लोग अपनी आर्थिक परिस्थिति के कारण साक्षरता अभियान से बिल्कुल दूर रहे है।

किन्तु वर्तमान में सरकारी व गैर सरकारी संगठनों के प्रयासों सोशल मीडिया का प्रभाव, सामाजिक जन – सम्पर्क के प्रभावों से कोल समुदाय के लोगों का शिक्षा के प्रति जागरूकता बड़ी है और अब कोल युवाओं में उच्च शिक्षा का रूझान देखने को मिल रहा है।

सामाजिक संगठन – कोल जनजाति भी अन्य जनजातियों के समान अनेक उपवर्गो में बँटी है। प्रत्येक उपवर्ग अर्न्तविवाही होता है। एक क्षेत्र विशेष में एक ही उपवर्ग वाले अधिक संख्या में रहते है। कुछ अर्थो में इनकी सामाजिक और धार्मिक विशेषताएं भिन्न हैं। उदाहरर्णाथ – ठुकरिया, रौजिया, देसह, खगपरिया और घुड़वर, शंकरगठ क्षेत्र में ठुकरिया अधिक संख्या में रहते हैं।

कोल समाज पितृवंशीय तथा पितृस्थानीय होते हैं। दूसरे शब्दों में, वंश की परम्परा पुरूष (पिता से पुत्र) से चलती है। विवाह के बाद पिता के समूह में ही पुत्र रहते है, पुत्रियाँ विवाह के बाद अपने पति के समूह में चली जाती है।

कुल समूह व परिवार –

जब कोई परिवार के सदस्य परस्पर सम्बन्धित होते है और एक ही स्थान पर रहते है तो ''कुलसमूह'' का निर्माण होता है कोल जनजाति में कुलसमूह का रूप बहुत ही कमजोर है क्योंकि पिछले 50–60 वर्षो से दयनीय आर्थिक स्थिति के एक ही स्थान पर सभी भाई एक ही साथ नही रह पाते हैं। इसी कारण वर्तमान समाज मे कोल लघु परिवारों में रहते है, जिसे ''दम्पत्ति परिवार'' भी कहा गया है।

क्षेत्रीय अध्ययन के दौरान यह पाया गया है कि प्रत्येक गाँव की कोल बस्तियाँ सामाजिक समूहों में बँटी हुई है और एक ही वंश के व्यक्ति अलग–अलग सामाजिक समूहों (पारिवारिक) में रहते हैं। कभी – कभी कुल समूह के वंशीय व्यक्ति की महत्वपूर्ण अवसरों पर सलाह ली जाती हैं। पुरूष (पिता) परिवार का मुखिया होता है।

विवाह –

क्षेत्र विवाही नियम के प्रचलन के कारण विवाह सम्बन्ध दूसरे गाँव से परन्तु उसी समूह में स्थापित किये जाते है। विवाह सम्बन्धित सभी रीति–रिवाज प्रायः हिन्दू रीति–रिवाजों के तरह ही होते हैं। यह हिन्दू धर्म का ही प्रभाव है कि कोल समुदाय में भी बाल विवाह भी प्रचलित हैं।

धर्म –

कोल हिन्दू रीति – रिवाज मानते है व उनके नाम भी हिन्दुओं जैसे ही होते हैं, त्योहारों तथा अन्य सामाजिक कार्यों में भी हिन्दु धर्म का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। दैनिक जीवन में अन्धविश्वासों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये लोग ज्योतिष विज्ञान तथा कुण्डली आदि को भी मानते है, किन्तु उनकी गूढ़ता को समझ नही पाते हैं।

कोल देवी देवताओं में सबसे महत्वपूर्ण स्थान ''लाखन'' का है। वे ''विरम्ही'' देवी की पूजा जाटू की देवी मानकर करते है। ''सेवटी'' की पूजा की जाती है, क्योंकि भगवान राम ने उसके घर वेर खाये थे तथा अन्य जनजातियों की तरह ये भी गाँव में एक स्थान विशेष की पूजा करते हैं।

आर्थिक जीवन –

कोलों की अर्थ – व्यवस्था तेन्दु–पत्ता, पत्थर और कृषक मजदूर के ईर्द–गिर्द घूमती हैं। उनकी मुख्य आजीविका तेन्दू वीड़ी पत्ता एकत्र करना छाँटना और वण्डल बनाना, पत्थर तोड़ना और दूसरों के खेतों में मजदूरी करना है। मजदूरी के बदले इन्हें अन्य मिलता है। अन्य आर्थिक क्रिया कलापों में सिलिकि, वालू होना और जंगल से लकड़ी और महुआ एकत्र कर बाजार में बेचना प्रमुख हैं। कभी – कभार ये

लोग निर्माण या इसी तरह के अन्य कार्यो में दैनिक मजदूरी का काम करते हैं। कालीन उद्योग में भी कोल (विशेषकर भेजा तहसील) के अक्सर मजदूरी करते हैं। बच्चों की नाजुक उगलियाँ महीन कालीन बुनने को बुनायी का काम मिल जाता है। इन बच्चों में कोल बच्चे भी शामिल है।

इनकी आर्थिक स्थिति कमजोर है। ये लोग विपन्नता का जीवन जी रहे है। इस स्थिति में शिक्षा के बारे में तो यह सोच भी नही सकते, इनके घर भी घास – फूस की छत वाले होते है।

राजनैतिक संगठन –

अर्न्तपारिवारिक झगड़ों जैसे पर पुरूष गमन पर स्त्री गमन लड़ाई – झगड़ों, परम्परागत नियमों को नही मानना आदि का निपटारा जातीय स्तर पर करते है। यदि इनका झगड़ा पड़ोसी, गैर कोल जातियों से हुआ तो यह मसला ग्राम पंचायत द्वारा तय किया जाता है, आधुनिक जघन्य अपराध जन्य परिस्थितियों में पुलिस उन्हें कोर्ट को भी पहुँचा देती है कोल में विरादरी पंचायत प्रथा अभी भी प्रचलित है और समय–समय पर विरादरी की सभा बुलाई जाती है।

कपड़े तथा आभूषण –

आम तौर पर कोल नग्न बदन रहते है और लुंगी व लंगोट आदि पहनते है। स्त्रिया साड़ी पहनती है। रंगबिरंगे कपड़े और पच्चोकारी जिसके लिए जनजातीय समाज प्रसिद्ध है उसका कोल में सर्वथा अभाव पाया जाता है।

साधारणतया कोल पुरूष आभूषण नही पहनते वे गले या बाह पर ताबीज या अन्य जंतर पहनते है जो श्रृंगार न होकर धार्मिक या अंधविश्वासी प्रवृत्तियों का प्रतीक है। इसके अलावा कोल पुरूषों द्वारा सार पर पगड़ी या हेउबैंड जैसे हेडगियर पहने जाते हैं।

महिलाएँ साधारणतया साड़ी पहनती है जो एक प्रकार का लपेटा हुआ वस्त्र होता है तथा आभूषण के तौर पर रंग – बिरंगी चूड़िया, कान में झुमके, गले में हसुली, पैर मे वरूआ तथा हाथों में डरकउवाँ जैसे आभूषणों को धारण करती है।

त्योहार –

त्योहार कोल समुदाय द्वारा आयोजित एक उत्सव है, कोल समुदाय के लोग संगीत, नृत्य और पारम्परिक अनुष्ठानों के मध्यम से अपनी सांस्कृतिक विरासत का जश्न मनाने के लिए त्योहारों पर 'इकठ्ठा' होते है। यह कोल के लिए अपने अनूठे रीति रिवाज और परम्पराओं के बड़े समुदाय के साथ साझा करने का एक अवसर भी है।

हस्तशिल्प –

कोल जनजाति अपने पारम्परिक हस्तशिल्प के लिए प्रसिद्ध है ये लोग सुन्दर नक्काशीकारी हाथ से बड़े ही सुन्दर – सुन्दर बाँस की टोकरिया, मिट्टी के बर्तन व आभूषण बनाते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- नदीम हसनैन – जनजातीय भारत (आठवाँ संस्करण)
- Pandey Ajit Kumar –Trible Society In India
- डॉ० बी० आर० अम्बेडकर, शुद्रों की खोज, लखनऊ,बहुजन कल्याण प्रकाश
- डी.एन.मजुमदार, टी.एन. मदान – सामाजिक मानवशास्त्र परिचय
- गुप्ता एवं शर्मा सामाजिक मानवशास्त्र साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा
- गुप्ता, दीपांकर (एडी),स्ट्रटीफिकेशन इन इण्डिया, न्यू देलही, रोज पब्लिकेशन, 1992
- दैनिक समाचार एंव पत्र – पत्रिकाएँ व कुरूक्षेत्र में प्रकाशित लेख।
- मुकर्जी रवीन्द्र नाथ (2013) समाजशास्त्र एस बी पी डी पब्लिकेशन्स आगरा पेज न0 113–115

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

पंचायती राज का ग्रामीण जीवन पर प्रभाव

सजेन्द्र कुमार सिंह
शोध –छात्र –समाजशास्त्र
राजा श्रीकृष्ण दत्त पी0जी0 कालेज जौनपुर

सारांश– *"पंचायती राज व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है। जिसमे पिरामिद शाक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाता है साथ ही सत्ता एवं शक्तियों को अलग–अलग हिस्सों बाट दिया जाता है शाक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाता है ताकि राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र मे विकास किया जा सके वर्तमान समय पंचायती राज व्यवस्था के द्वारा ग्रामीण जीवन स्तर में काफी सुधार हुआ है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य पंचायती राज का ग्रामीण जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। ताकि कमियों को दुर कर राष्ट्र के निर्माण में अपना अमूल योगदान प्रदान कर सकें।"*

कुंजी भूत शब्द – लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण, सांस्कृतिक आवश्यक्ता, परम्परा, पंचायती राज ग्रामीण संरचना, अन्धविश्वास, भाग्यवादिता।

लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण के साधन के रूप में पंचायत राज व्यवस्था ने भारत जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। पंचायत राज व्यवस्था आज देश के सभी भागों में कार्यान्वित हो चुकी है तथा इसकी विभिन्न इकाइयों द्वारा एक समन्वित विकास कार्यक्रम को व्यवहारिक रूप दिया जा रहा है। इस व्यवस्था के अनुसार प्रजातात्रिक विकेन्द्रीकरण से सम्बन्धित सभी कार्यक्रमों को ग्रामीण स्तर पर लागू करने के लिए पंचायत, सहकारिता तथा विद्यालय तीन महत्वपूर्ण संस्थाएँ है। एक विशेष क्षेत्र में विकास कार्यक्रम को लागू करने का दायित्व निर्वाचित सदस्यों वाली ग्राम पंचायत का है जबकि आर्थिक विकास कार्य सहकारी समितियों के माध्यम से पूरा किया जाता है। ग्रामीण विद्यालय एक ऐसा सामाजिक केन्द्र बन गया है जिसके द्वारा ग्रामीणों को शिक्षात्मक, मनोरंजनात्मक तथा सास्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाता है विभिन्न सहयोगी संगठनों जैसे महिला एवं युवा मण्डलों, कृषक तथा कारीगार समितियों आदि को अपने–अपने क्षेत्र की पंचायतों के विकास कार्यक्रमों को इस प्रकार मिला दिया गया है, जिससे पंचायत राज व्यवस्था अधिक से अधिक प्रभाव पूर्ण रूप से अपना कार्य कर सके। इस सम्पूर्ण प्रयासों के फलस्वरूप आज पंचायत राज व्यवस्था ने ग्रामीण जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। विभिन्न अध्ययनों के आधार पर पंचायत राज व्यवस्था के प्रमुख प्रभावों को निम्नलिखित ग्रामीण क्षेत्रों में स्पष्ट किया जा सकता है।

-1पंचायत राज व्यवस्था के प्रभाव से ग्रामीणों की परम्परागत जाति संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। जि गाँवों में कुछ समय पूर्ण तक सभी जातियाँ एक–दूसरे से अलग समुदाय के रूप में अपना अस्तित्व बनाये हुए थी, उनमें अब सामाजिक दूरी कम होने के साथ ही सात्मीकरण की प्रक्रिया भी प्रबावपूर्ण हो गई है। एवेलेन गुड ने यह स्पष्ट किया किया है कि पंचायत राज व्यवस्था के फलस्वरूप ग्रामीणों को मतदान का अधिकार मिला जिससे जाति संरचना के केवल धुवीकरण की प्रक्रिया ही आरम्भा नही हुई बल्कि विभिन्न 'जातियों की एक–दूसरे में निकट सम्पर्क में आने के अवसर भी प्राप्त है। -1श्री निवास ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि पंचायत राज की स्थापना से निम्न जातियां विशेषकर, हरिजन जातियों में आत्म सम्मान की भावना बढ़ने के साथ ही शक्ति की एक नवीन अनुभूति का संचार हुआ है।2

-2ग्रामों की राजनीतिक संरचना भी आज नवीन परिवेश ग्रहण कर रही है। ग्रामों की शक्ति संरचना अब आनुवंशिक अथवा वृद्ध व्यक्तियों के हाथों में केंद्रित नही है बल्कि इसमें जन–साधरण की सहभागिता बढ़ती जा रही है। ग्रामीण नेतृत्व अब मुख्य रूप से उन व्यक्तियों के हाथों में केंद्रित होने लगा है जो मध्यम वर्ग के सदस्य है अथवा जिनके परिवार का परम्परागत शक्ति संरचना में कोई प्रत्यक्ष योगदान नही था।

-3पंचायत राज व्यवस्था से सम्वद्ध विभिन्न विकास कार्यक्रमों के फलस्वरूप ग्रामीणों के जीवन–स्तर तथा प्रति व्यक्ति आय में भी पर्याप्त सुधार हुआ है, आर्थिक सुधार के साथ ग्रामीण जीवन में व्याप्त अन्ध–विश्वासों तथा कुरीतियों का प्रभाव पहले की तुलना में बहुत कम हो चुका है। इसके फलस्वरूप आज ग्रामीण समुदाय में हीनता और निराशा की भावना उतने स्वष्ट रूप में दिखाई नही देती है जैसी कि कुछ वर्ष पूर्व तक अनुभव की जाती थी

-4पंचायत राज के प्रभाव में आज ग्रामीण गतिशीलता में भी वृद्धि हुई है। यह गतिशीलता सामाजिक तथा आर्थिक सभी क्षेत्रों में विद्यमान है। नयें बाजारों का ज्ञान तता परिवहन की सुविधानों की सहायता से ग्रामीण अपनी उपज का अब अधिक मूल्य प्राप्त करने लगे है, ग्रामीण महाजन, बंजारे तथा स्थानीय व्यापारी सहकारी समितियों के कारण ग्रामीणों का शोषण नही कर पाते। ग्रामीणों द्वारा अब औद्योगित श्रमिक के रूप में कार्य करने के लिए नगरों की ओर जाना अनुचित नही समझा जाता । जिसके कारण विभिन्न क्षेत्रों में श्रम की मांग और पूर्ति का असन्तुलन कम हुआ है।[3]

-5गाँवों में शिक्षा का प्रसार होने तथा स्वास्थ्य सुविधाओं में वृद्धि होने से संक्रमांक रोगों की समस्या–पहले से काफी कम हो गयी है। पीने के पानी की व्यवस्था स्वच्छता के नियमों के प्रति जागरूकता तथा स्वास्थ्यकारी आवास व्यवस्था के फलस्वरूप ग्रामीण स्वास्थ्य के स्तर में सुधार है।

-6न्याय के क्षेत्र में भी पंचायत राज व्यवस्था से सुधार हुआ है क्योकि न्यायपंचायते सस्ता और शीघ्र न्याय देने का प्रत्यन करती है। यह सच है कि न्याय पंचायतें ग्रामीण जीवन में अधिक सफल नही हो सकती है तथा ग्रामीण विवादो और संघर्षो की संख्या में पहले से अधिक वृद्धि हुई है लेकिन ग्रामीणों के बीच पारस्परिक समझौते के द्वारा विवादो का समाधान करने में न्याय पंचायतो का योगदान निश्चय ही महत्वपूर्ण है।

-7पंचायत राज व्यवस्था का ग्रामीण जीवन पर एक स्पष्ट प्रभाव जाति पंचायतों के प्रभाव में होने वाले ह्रास के रूप में देखने को मिलता है। भारत के पिछले सैकड़ो वर्षो के इतिहास से ज्ञात होता है कि जाति पंचायते आर्थिक रूप से दुर्बल तथा सामाजिक रूप से पिछडे हुए समूह का शोषण करने वाला प्रमुख आधार थी।[4] गाँव में अन्धविश्वासों भाग्यवादिता तथा आर्थिक असमानता में वृद्धि करने के लिए जाति पंचायतें एक बड़ी सीमा तक उत्तरदायी थी। पंचायत राज व्यवस्था के कारण अब जाति पंचायतों का प्रभाव इतना कम हो गया है कि अधिकांश गांवो में जाति पंचायतों का अस्तित्व ही देखने को नही मिलता। इसके कारण ग्रामीणों का जीवन अधिक स्वतंत्र, उदार और समतावादी बन गया है।

-8अनेक लाभकारी प्रभाव के बद भी पंचायत राज व्यवस्था ने ग्रामीण जीवन में कुछ विघटनकारी प्रवृत्तियों को भी जन्म दिया है जिनमें गुटबन्दी बढ़ते हुए संघर्ष और व्यक्तिवादिता आदि प्रमुख समस्याएँ है। बीते कुछ वर्षों में अनेक अध्ययनों द्वारा यह निष्कर्ष सामने आया है कि निर्वाचन प्रणाली तथा मताधिकार के फलस्वरूप गाँवों में पेशेवार नेताओ का प्रभाव बढ़ने लगा चुनाव के समय एक बार उत्पन्न हो जाने वाले मतभेद, स्थायी संघर्ष, गुटबन्दी और विवाद का कारण बन जाते है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि पंचायत राज व्यवस्था ने ग्रामीण क्षेत्री में अनेक स्वस्थ्य परिवर्तन उत्पन्न करने के साथ ही कुछ ऐसी समस्याओं को भी जन्म दिया जो ग्रामीण जीवन के विघटन के लिए उत्तरदायी है। आज गांवो में भी नगरों के समन व्यक्तिवादिता तथा मूल्यों के हास की समस्या उत्पन्न हुई है कुछ व्यक्तियों का विचार है कि ये दुष्परिणाम पंचायत राज व्यवस्था के न होकर कार्यक्रमों के दोषपूर्ण क्रियान्वय के है वास्तविकता यह हो कि पंचायत राज व्यवस्था के दुष्परिणाम इससे प्राप्त लाभो की तुलना में बहुत कम है। किसी भी समाज अथव समुदाय की प्रगति का वास्तविक आधार उसके सदस्यों की सामाजिक एवं आर्थिक जागरूकता है। पंचायत राज व्यवस्था ने ऐसी जागरूकता उत्पन्न करने में निश्चय ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यदि कुछ क्षेत्रों में पंचायत राज व्यवस्था न होकर ग्रामीण वर्यावरण का पर्यावरण असन्तुलन तथा सरकार की दोषपूर्ण नीतिया है इसका तात्पर्य है कि आज गाँवों में व्याप्त जातिवाद, दलबन्दी की भावना, अशिक्षा उचित नेतृत्व का अभाव पंचायतों के कार्यों की लम्बो सूची, पंचायतो की निम्न आर्शिक स्थिति तथा चुनावों की दोष पूर्ण प्रक्रिय आदि वे महत्वपूर्ण कारण है जिनके फलस्वरूप पंचायतराज व्यवस्था अधिक सफल नही हो सकी है।

पंचायती राज संस्थाओं को सफल बनाने हेतु सुझाव

पंजायती राज व्यवस्था की प्रारम्भिक अवस्थाओं के अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि इसका इतिहास बहुत चढ़ाव और उतार का रहा है।

प्राराभिक अवस्था में पंचायती राज का कार्य अत्यधिक संतोष जनक था, दूसरे स्तर पर यह एक निष्कित संस्था बन गयी जबकि तीसरी अवस्था में इसकी अवनति होने लगी। इस प्रकार वर्तमान समय में पंचायती राज के सैद्धान्तिक पक्ष से सहमत होते हे भी इसके व्यवहारिक स्वरूप में कुछ परिर्वतन आवश्यक है जिनके आधार पर इस व्यवस्था को ग्रामीण विकास का एक प्रभावपूर्ण माध्यम बनाया जा सके आज पंचायतों की आय में वृद्धि करके ही इन्हें जन सामान्य के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है। इस लिए पंचायतों के अधिकारों में वृद्धि की जाय तथा अनुदान राशि के रूप में उन्हें दी जाने वाली आर्थिक सहायता की राशि में वृद्धि की जाय। इसके विभिन्न स्तरों पर निर्वाचित व्यक्ति एक सीमा तक शिक्षित होने चाहिए। कम से कम ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद के प्रधान और उप–प्रधान पद के प्रत्याशियो के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता का निर्धारण होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित सुझावों के आधार पर भी पंचायती राज व्यवस्था को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

-1ग्राम पंचायतो के विकास को प्रोत्साहन अवश्य मिलना चाहिए, लेकिन साथ ही कार्य न करें बल्कि उन्हें मुख्य रूप से सामाजिक और आर्थिक विकास से सम्बंधित होना चाहिए।

-2पंचायती राज व्यवस्था की विभिन्न इकाइयाँ केवल शासन की इकाई के रूप में ही कार्य न करें बल्कि उन्हें मुख्य रूप से सामाजिक और आर्थिक विकास से सम्बंधित होना चाहिए।

-3यह आवश्यक प्रतीत है कि पंचायती राज संस्थाओं को अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए अधिक अधिकार प्रदान किये

जाय, लेकिन साथ ही यह भी आवश्यक है कि इन संस्थाओं के साधनों का उपयोग केवल कृषि के विकास एवं उत्पादक कार्यों के लिए ही किया जाय।

-4पंचायती राज व्यवस्था को राजनीतिक दलबन्दी से पूर्णतथा पृथक रखना आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि त्रि–रतरीय व्यवस्था के किसी भी स्तर पर कोई भी प्रत्याशी किसी राजनीतिक दल के रूप में चुनाव न लडें। यह और भी अधिक लाभप्रद होगा। यदि चुनाव की प्रक्रिया को समाप्त करके क्षेत्रों के सांसदो तथा विधायको के द्वारा गाँव के अनुभवी और सम्मालित।

-5यदि चुनाव की व्यवस्था प्रजातांत्रिक आधार पर आवश्यक ही समझी जाए तो यह आवश्यक है कि चुनाव में भाग लेने वाला प्रत्याशी उस गांव कम से कम पिछले 10 वर्षों से स्थायी निवासी अवश्य हो। पंचायती राज व्यवस्था के विभिन्न स्वरों पर चुनाव लडने वाले प्रत्याशी के लिए न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता अवश्य निर्धारित होनी चाहिए जिससे निर्वाचित हो जाने के बाद वह अपने पद से सम्बंधित दायित्वों का भली–भाँति निर्वाह कर सके।

-6पंचायती राज व्यवस्था के पदाधिकारियों के कार्यों की देखभाल के लिए एक पृथक मूल्यांकन दल अथवा अध्ययन दल नियुक्त किया जाना चाहिए तथा उसी की संस्तुति के आधार पर विभिन्न स्तरों की पंचायती संस्थाओं को अनुदान दिया जाना चाहिए।

-7अन्त में, पंचायती राज व्यवस्था की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि छोटी छोटी पंचायतों की समुचित निर्देश देने के लिए 10 या 15 पंचायतो के ऊपर के क्षेत्रीय पंचायत की स्थापना और सुदृढ़ किया जाय और जिस स्थान पर क्षेत्रीय पंचायते नही हो उसकी व्यवस्था करनी चाहिए। इसके साथ ही क्षेत्रीय पंचायत में आधे सदस्य विभिन्न पंचायतों से मनोनीत होने चाहिए तथा आधे सदस्य निष्ठावान पदेन सरकारी हो सकते है।

संदर्भ ग्रन्थ

.1Evelyam Wood (1964) Caste's latest image Econamic weekly p-951-52.

2. M.N. Srinivas (1966) Soual Change in Mordern India. Publisher University of California -P-28

-3परीक्षा मंथन– 2023

4. महेश्वरी एस0 आर0 (1999) ''भारत में स्थानीय प्रथासन'' लक्ष्मी नरायण अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा पृष्ठ–48

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

भारत में अनुसूचित जनजातियां : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

मनीष कुमार कश्यप
असिस्टेंट प्रोफेसर समाजशास्त्र विभाग
आर.एम.पी.पी.जी.कालेज सीतापुर,उ0प्र0

सारांश–
जनजातीय समाज आदि काल से ही प्राकृतिक घटनाओं के वास्तविक दृष्टिकोण का अवलोकन करता रहा है। साथ–साथ जनजातीयों ने प्राकृतिक घटनाओं के साथ अपने व्यवहार में परिवर्तन लायें। इन जनजातीयों को वन्यजाति, आदिवासी, वनवासी, गिरीजन तथा वर्तमान में संवैधानिक नाम अनुसूचित जनजाति आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। आदिम समाज से ही ये जनजाति गोत्र का एक विस्तृत स्वरूप जनजाति है। यह खानाबदोशी जत्थे, झुण्ड, गोत्र, भ्रातृदल एवं मोइटी से अधिक विस्तृत एवं संगठित होती है। गिलिन और गिलिन ने इन जनजातीयों को परिभाषित करते हुए लिखते है, ''स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी संग्रह को जो कि एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते है।'' जनजातियों का सबसे सरल प्रकृति का संगठन खानाबदोशी जत्था है। इसकी सदस्य संख्या कम होती है और इसके सदस्य भोजन प्राप्ति के लिए छोटे–छोटे समूहों में जीवन व्यतीत करते है। इन आदिवासीयों का एक निश्चित भू–भाग में ही घुमते है इन लोगों का कोई स्थायी निवास नहीं होता है। ये प्रकृति से निकटता का सम्बन्ध रखते हैं। ये लोग फल–फूल, भोजन, शिकार एवं चारे की तलाश में ये लोग अपने स्थान को बदलते रहते हैं। तथा अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ जैसे ओढ़ने, बिछाने व पहनने के कपड़े, हथियार एवं वर्तन आदि भी अपने साथ लेकर घुमते फिरते है जहाँ इनको सुविधा मिलती है, वही पर रूक जाते है और जहाँ इनको असुविधा महसूस होता है अन्य स्थान पर चले जाते हैं।

मुख्य शब्द– जनजातीयों, खानाबदोशी, वन, जनजातिय समस्याओं

खानाबदोशी जत्थे को थियोडोरसन एवं थियोडोरसन एक ऐसे भौगोलिक समुदाय के रूप में मानते है जो जनजाति की तुलना में छोटा होता है। यह समुदाय का एक प्रारम्भिक रूप है जो घुमक्कड़ या अर्द्ध–घुमक्कड़ लोगों में पाया जाता है। इसका आकार चरागाह, भूमि, शिकार एवं भोजन आदि की उपलब्धि पर निर्भर करता है।

जनजातियों की विशेषता है कि इन जनजातियों का एक सामान्य भू–भाग, सामान्य भाषा, विस्तृत आकार, अन्तर्विवाह, एक नाम, सामान्य संस्कृति, आर्थिक आत्मनिर्भरता, राजनीतिक संगठन एवं सामान्य निषेध आदि। अनुसूचित जनजाती का एक पृथक समाज होता है उनकी अपनी भाषा और संस्कृति होती है। इन जनजातियों का एक विशेष नाम होता है। इन जनजातियों को समाज के निम्न श्रेणी में रखा गया हैं। जिससे प्राचीन काल में आदिवासी एवं वनवासी के नाम से सम्बोधित किया गया, डॉ घुरिये ने अनुसूचित जनजाति को 'पिछड़े हिन्दू' कहा है।

भारत में अनुसूचित जनजातियों के प्रमुख नाम :

जनजातियों के नाम	निवास क्षेत्र
1. मुंडा, ओरांव, हो, बिरहोर	छोटा नागपुर का पठार, बिहार।
2. कोल, भील	राजस्थान की दक्षिणी सीमा, उत्तर प्रदेश, हैदराबाद, गुजरात व विन्ध्याचल की पहाड़ी में।
3. खस	उत्तर प्रदेश के उत्तर–पश्चिमी पर्वत क्षेत्र में ।
4. भोटिया	गढ़वाल व कुमाऊं जिला।
5. गारो	असम के कामरूप, गोलपाड़ा, बंगाल का मैमनसिंह जिला।
6. सन्थाल	झारखण्ड के संथाल परगना व रांची।

7. मुरिया, माडिया	मध्य प्रदेश
8. खासी	असम की जयन्तिया तथा खासी पहाड़ियो पर।
9. गोंड	राजस्थान व विन्ध्याचल की पर्वत श्रेणी।
10. थारू	उत्तराखण्ड के नैनीताल जिले में।
11. उरांव	बिहार के सोन नदी के पास पहाड़ी क्षेत्र में।
12. कूकी	असम के लुशाई प्रदेश में।
13. चेंचू	हैदराबाद के जंगलों में।
14. बैगा	मध्य प्रदेश के दक्षिणी भाग में।
15. जुआंग	उड़ीसा की क्योंझर व धेनकनाल रियासतों में।
16. नागा	नागालैण्ड।

जनजातियाँ वनों में निवास करती है, उनकी संस्कृति वनों पर केन्द्रित है, इसलिए वनों का महत्व उनके जीवन में काफी अधिक है। ये वनों का उपयोग अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु करती है। उनके इस अधिकार को सरकार द्वारा समय–समय पर कानून बनाकर सीमित कर दिया गया, जिससे अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गयी। सरकार द्वारा समय–समय पर उनके अधिकार को चुनौती दी जाती रही है।

वनों से संबंधित महत्वपूर्ण तथ्य :–

सर्वप्रथम मध्य भारत के गवर्नर लार्ड डलहौजी द्वारा 1855 ई0 में एक वन नीति घोषित की गयी जिसमें कहा गया कि 'वन क्षेत्र में जो भी इमारती लकड़ी के पेड़ है, वे राज्य सरकार के है और उस पर किसी व्यक्ति विशेष का कोई अधिकार नहीं है।' इस नीति को अमल में लाने के लिए 1855 ई0 में ही 'वन विभाग' की स्थापना की गयी। 1865 ई0 में पहला वन कानून बना। 1878 ई0 में भी एक कानून बनाया गया, जिसके द्वारा जनजातियों को वनों में प्रवेश करने, पशुओं को चराने आदि कामों पर रोक लगा दिया गया। ऐसे कार्यो को जूर्म घोषित किया गया तथा इसके लिए दण्ड का प्रावधान किया गया।

उपर्युक्त सारे प्रावधानों में विषमता को देखते हुए सरकार द्वारा ''भारत की प्रथम वन नीति, 1894'' घोषित की गयी। ,

भारत वन अधिनियम 1927 के द्वारा उपर्युक्त प्रावधान को और शक्तिशाली बनाया गया तथा 'संरक्षित कार्यपालिका' की व्यवस्था की गयी। जिसमें राजकीय व भारतीय वन सेवा के अधिकारी, रेंजर्स, फारेस्टर्स व वन के चौकीदारों आदि की व्यवस्था की गयी। 1935 के भारतीय अधिनियम में वन को 'राज्य सूची' का विषय बनाया गया, जिसे सन् 1950 में लागू भारतीय संविधान में भी 'राज्य–सूची' में ही रखा गया था। परंतु 1976 ई0 में 42 वें संविधान संशोधन द्वारा इसे 'समवर्ती सूची में सम्मिलित कर दिया गया है अर्थात् वर्तमान समय में वन समवर्ती सूची का विषय है।

राष्ट्रीय वन नीति, 31 मई 1952 :–

यह स्वतंत्र भारत की प्रथम वन नीति थी। स्वतंत्र भारत के प्रथम वन मंत्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी (के0 एम0 मुंशी) के नेतृत्व में 'वन महोत्सव' को शुरूआत की गयी तथा स्वतंत्र भारत की प्रथम वन नीति 1952 घोषित की गयी। इस नीति में जनजातियों को कोई कानूनी अधिकार नहीं दिया गया, लेकिन कुछ रियायतें एवं सुविधाएँ अवश्य प्रदान की गयी, जो निम्नवत् है–

1– आवश्यक कामों जैसे खेती, पीने आदि के लिए पानी लेने की सुविधा।
2– ईधन हेतु सूखी लकड़ियाँ लेने की सुविधा।
3– खेती हेतु नहरों व कुओं की खुदाई की सुविधा।
4– वनों में निःशुल्क पशु चराना।
5– घरेलू व कृषिगत कार्यों के लिए मिट्टी व पत्थर लेने की छूट।

6– घरों के निर्माण, उनकी मरम्मत व खेतिहर उपकरणों के लिए लकड़ी, बाँस, सरकण्डे व बेंत आदि प्राप्त करने की सुविधा।

7. संरक्षित जीव समुदाय को छोड़कर मछली व शिकार करने की छूट।

8– वन की भूमि पर कृषि करने की छूट।

उपर्युक्त रियायतों व सुविधाओं के बावजूद जनजातियों का असंतोष समाप्त नहीं हुआ और वे वनों पर पूर्ण स्वामित्व की मांग करती है। इस समस्या के समाधान के लिए यू0एन0 ढेबर के नेतृत्व में 28 अप्रैल, 1960 में जनजाति व वन से संबंधित अध्ययन के लिए एक आयोग का गठन किया गया। ढेबर आयोग का मानना था कि जंगलों की असली मालिक जनजातियाँ ही हैं, अतः इनकों पूर्णतः उसके उपयोग की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, लेकिन सरकार द्वारा ढेबर आयोग की सिफारिश को अस्वीकार कर दिया गया। 1980 ई0 में डॉ0 बी0 के0 राय बर्मन के नेतृत्व में पुनः एक समिति का गठन किया गया, जिसने भी ढेबर आयोग की सिफारिश को उचित ठहराया तथा जंगल जनजातियों को सौंप देने की बात कहीं। इस समिति की सिफारिश को भी सरकार द्वारा अस्वीकार कर दिया गया।

सदियों से जनजातियां भारतीय समाज का एक असभ्य भाग समझी जाती हैं। जनजातियों के लोग जंगलो में और पहाड़ियों पर रहते है और उनका अपने तथाकथित सभ्य और विकसित पड़ोसियों से सम्पर्क आकस्मिक से अधिक नहीं था। चूंकि जनसंख्या के दबाव नहीं थे, इसलिये उनके क्षेत्रों में घुसने का और उन बाहरी मूल्य और विश्वास थोपने का कोई प्रयास नहीं किया गया। परन्तु जब अंग्रजों ने देश में अपनी स्थिति को संगठित किया तो उसने उपनिवेशीय आकांक्षाओं और प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिये आवश्यक हो गया कि पूरे देश को एक प्रभावी संचार व्यवस्था से जोड़ दिया जाये। अंग्रजों ने भूस्वामित्व और भूराजस्व की प्रणाली को आरंभ किया। वार्षिक करों को तिगुना कर दिया गया जो कि जनजाति के किसानों की भुगतान क्षमता से परे था। जनसंख्या के बढ़ते दबाव के कारण बाहर के व्यक्ति भी जनजाति क्षेत्रों में बसने लगे। अपने पैसे की शक्ति से वे ऋण की सुविधा लोगों को घर बैठे उपलब्ध कराने लगे। प्रारम्भ में इसने जनजातियों को राहत पहुंचाई परन्तु धीरे–धीरे यह प्रणाली शोषण करने लगी।

इरावती कर्वे का मत है कि भारतीय जनजातियों का स्थानीय एवं प्रादेशिक राजनीति में सारे इतिहास के दौरान और विशिष्ट रूप से मध्यकाल में दबदबा रहा है। पिछले डेढ़ सौ–दौ सौ वर्षो से जनजातियों क सामाजिक राजनीतिक जीवन में बाह्य सम्पर्क के कारण अनेक परिवर्तन हुए हैं, परिणामस्वरूप उनमें अनके आन्दोलनों का जन्म हुआ। इन आन्दोलनों की उत्पत्ति के कारणों उद्देश्यों, संगठनों एवं परिणामों में पर्याप्त निभन्नता पायी जाती है।

अनुसूचित जनजातियों का धीरे–धीरे परिवर्तन के साथ शोषण का गति बढ़ता गया। कानून की नई–नई खुली कचहरियों ने शोषकों की सहायता की। पहले आर्थिक और बाद में सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण ने जनजातियों के नेताओं को उत्तेजित कर दिया और उन्होंने जनजातियों के लोगो को संगठित कर आंदोलन आरंभ किया। वंचना की भावनाओं के बढ़ने से जन आन्दोलन और संघर्ष भी बढ़े। प्रारम्भ में वे शोषण करने वालों और उनके अधिकारों को हड़पने वालों के विरूद्ध थे, परन्तु अन्त में वे सरकार और शासकों के विरूद्ध हो गये।

पर्यावरणीय समाज में जनजातियों को स्वतंत्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया तथा जंगलों के कानूनों और नियमों में कठोरतापन, जिससे जनजातियों को असन्तोष एवं समस्या का सामना करना पड़ता है। इसके प्रमुख कारण है।

1. जनजाति के लोगों के पुनर्वास के लिये सरकारी कार्यवाही में अकुशलता।
2. ऋण की सुविधाओं का अभाव।
3. सुधार उपायों की कार्यान्वित में पक्षपात।

4. जनजाति समस्याओं को हल करने में राजनीतिक अभिजनों में अभिरूचि और सक्रियता का अभाव।
5. दुर्गम निवास स्थान की समस्या लगभग सभी जनजातियां पहाड़ी भागों, जंगलों, दलदल–भूमि और ऐसे स्थानों में निवास करती है जहां सड़कों का अभाव है और वर्तमान यातायात एवं संचार के साधन अभी वहा उपलब्ध नहीं हो पायें हैं।
6. आदिवासी संस्कृतियों का बाह्य संस्कृतियों से सम्पर्क अधिक हुआ। इस अत्यधिक सम्पर्क ने भी कई समस्याएं खड़ी कर दी हैं। आदिवासियों में सांस्कृतिक सम्पर्क की समस्याओं को जन्म देने हेतु कई कारण उत्तरदायी है। नवीन संस्कृतियों के सम्पर्क ने भोले आदिवासियों को अपनी ओर आकर्षित किया किन्तु, आदिम एवं नवीन संस्कृतियों के बीच इतना अन्तर है कि वे नवीन से अनुकूलन नहीं कर पाये।
7. वर्तमान सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण एवं नवीन सरकारी नीति के कारण जनजातीय लोगों को आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। जबकि आदिकाल में जनजातियों को अधिक स्वतंत्रता थी जिससे अपनी आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त कर लेते थे। भूमि सम्बन्धी सरकार की नयी नीति के कारण जंगलों को काटना मना कद दिया गया, अनेक क्षेत्रों में शिकार करने व शराब बनाने पर भी नियन्त्रण लगा दिया गया जिसके कारण आदिवासियों को जीवनयापन के परम्परात्मक तरीकों के स्थान पर नवीन तरीके अपनाने पड़े। उन्हें जंगलों से लकड़ी काटने, स्थानान्तरित खेती करने एवं अन्य वस्तुओं को प्राप्त करने की मनाही कर दी गयी। वे बाध्य होकर अपने मूल निवास को त्याग कर चाय बागानों, खानों और फैक्ट्रियों में कार्य करने के लिये चले गये। अब वे भूमिहीन कृषि श्रमिकों एवं औद्योगिक श्रमिकों के रूप में कार्य करने लगे। इन लोगों की मजबूरी का लाभ उठाकर ठेकेदार एवं उद्योगपति इनसे कम मजदूरी पर अधिक काम लेने लगे। इन लोगों के निवास और कार्य करने की दशाएं भी दयनीय हैं। इस प्रकार से इनका आर्थिक शोषण किया गया है।
8. शहरी और सभ्य समाजों के सम्पर्क के कारण आदिवासियों में कई सामाजिक समस्याओं ने भी जन्म लिया है। पहले इन लोगों में विवाह युवा अवस्था में ही होता था, किन्तु अब बाल–विवाह होने लगे हैं जो हिन्दूओं के सम्पर्क का परिणाम है। सभ्य समाज के लोग जनजातियों में प्रचलित युवा–गृहों को हीन दृष्टि से देखते है। युवा–गृह आदिवासियों में मनोरंजन, सामाजिक प्रशिक्षण, आर्थिक हितों की पूर्ति का साधन एवं शिक्षा का केन्द्र था, किन्तु अब यह संस्था समाप्त हो रही है जिसके फलस्वरूप कई हानिकारक प्रभाव पड़े हैं।
9. जनजाति विकास कार्यक्रमों ने आदिवासियों के आर्थिक स्तर को उठाने में अधिक सहायता नहीं की। अंग्रेजों की नीति ने आदिवासियों का कई प्रकार से भीषण शोषण किया क्योंकि उसने जमीदारों, भूस्वामियों, साहूकारों, जंगल के ठेकेदारों और आबकारी, राजस्व और पुलिस अधिकारियों का पक्ष लिया।
10. बैकिंग सुविधाएं आदिवासी क्षेत्रों में इतनी अपर्याप्त है कि आदिवासियों को प्रमुखतया साहूकारों पर निर्भर रहना पड़ता है। आदिवासियों की इसलिये यह मांग है कि कृषि ऋण राहत कानून बनाये जायें जिससे कि उन्हें उनकी गिरवी रखी हुई जमीन वापस मिल सके।
11. आदिवासियों का ईसाई मिशनरी शोषण करते हैं। कई आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश काल में व्यापक धर्म परिवर्तन हुआ था। यद्यपि मिशनरी आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा के क्षेत्र में अग्रगामी रहे हैं और उन्होंने अस्पताल भी खोले हैं परन्तु वे आदिवासियों को अपनी संस्कृति से विमुख करने के भी उत्तरदायी हैं। ईसाई मिशनरियों ने कई बार उन्हें भारत सरकार के विरूद्ध विद्रोह करने के लिये भी भड़काया हैं।

12. जनजातीय समाज घने जंगलों, पहाड़ी भागों एवं तराई क्षेत्रों में निवास करती है। इन भागों में अनेक बिमारियां पायी जाती हैं। गीले एवं गन्दे कपड़े पहने रहने के कारण इनमें कई चर्म रोग हो जाते हैं। इन लोगों में मलेरिया, पीलियॉ, चेचक, राहे, अपच एवं गुप्तांगों की बीमारियां भी पायी जाती हैं। एवं बीमारियों के इलाज के लिए चिकित्सालयों का अभाव है।
13. डी.एन. मजूमदार (1968) ने जनजातीय समस्याओं के निराकरण के दो उपागम बताया– सुधारवादी उपागम एवं प्रशासकीय उपागम। सुधारवादी उपागम के अन्तर्गत जनजातीय कल्याण समाज सुधारकों के प्रयासों के आधार पर किया गया जबकि प्रशासकीय उपागम के अन्तर्गत सरकारी एवं समाजसेवा अभिकरणों के माध्यम से किया गया।
14. जनजातियों में शिक्षा का अभाव है और वे अज्ञानता के अन्धकार में पल रही हैं। अशिक्षा के कारण वे अनेक अन्धविश्वासों, कुरीतियों एवं कुसंस्कारों से घिरे हुए हैं। आदिवासी लोग वर्तमान शिक्षा के प्रति उदासीन है क्योंकि यह शिक्षा उनके लिए अनुत्पादक है।
15. एस.एस. दुबे (1968) ने जनजातीय समस्याओं के प्रति चार प्रमुख अधिगमों की विवेचना की हैः– समाजसेवा अधिगम, राजनीतिक अभिगम, धार्मिक अभिगम एवं मानवशास्त्रीय अभिगम।
16. आदिवासियों और गैर आदिवासियों के बीच सम्बन्ध बिगड़ रहे है और गैर–आदिवासी अपनी सुरक्षा हेतु अधिकाधिक रूप से अर्द्धसैनिक बलों पर निर्भर हो रहे हैं। आदिवासियों के लिये पृथक राज्यों की मांग ने मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय, मनीपुर, अरूणाचल प्रदेश और त्रिपुरा में विद्रोह का रूप ग्रहण कर लिया है। पड़ोसी देश, जो भारत के विरूद्ध है, इन भारत विरोधी भावनाओं का अनुचित लाभ उठाने में सक्रिय है। इन राज्यों में जो आदिवासी क्षेत्रों से घिरे हुए हैं विदेशी नागरिकों की घुसपैठ, बन्दूकों की तस्करी, मादक पदार्थों का व्यापार और तस्करी बहुत भीषण समस्याएं है।

अनुसूचित जनजातियों के सम्बन्ध में संवैधानिक प्रयास– भारत के संविधान व्यवस्था में अनुच्छेद 46 में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया कि राज्य कमजोर समूहों, विशेषकर अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के शैक्षणिक एवं आर्थिक हितों को विशेष रूप से ध्यान रखेगा एवं सामाजिक अन्याय एवं सभी प्रकार के शोषण से संरक्षण प्रदान करेगा। संविधान के बारहवें भाग के अनुच्छेद 275 के अनुसार केन्द्रिय सरकार राज्यों को जनजातीय कल्याण एवं उनके उचित प्रशासन के लिए विशेष धनराशि देगी। संविधान के पन्द्रहवें भाग अनुच्छेद 325 में कहा गया है कि किसी को भी धर्म, प्रजाति, जाति एवं लिंग के आधार पर मताधिकार से वंचित नहीं किया जायेगा। अनुच्छेद 146 के अन्तर्गत जनजातीय हितों को देखभाल हेतु कुछ राज्यों में पृथक मंत्रियों की नियुक्ति का प्राविधान बनाया गया। सोलहवें भाग अनुच्छेंद 330 व 332 वें अनुच्छेद में लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित किये गये हैं। अनुच्छेद 335 में आश्वासन देता है कि सरकारी नौकरियों में इनके लिए स्थान सुरिक्षत रखेगी। अनुच्छेद 338 में राष्ट्रपति द्वारा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। यह अधिकारी प्रतिवर्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। पाँचवी अनुसूची में जनजातीय सलाहकार परिषद की नियुक्ति की व्यवस्था है जिसमें अधिकतम बीस सदस्य हो सकते है, जिनमें से तीन–चौथाई सदस्य राज्य विधान सभाओं के अनुसूचित जनजातियों के होंगे। अनुच्छेद 324 एवं 244 में राज्यपालों को जनजातियों के सन्दर्भ में विशेषाधिकार प्रदान किये गये हैं।

सवैंधानिक प्रयासों के बावजूद भी अनुसूचित जनजातियों में कमी है जिसके कारण समस्या का सामना करना पड़ रहा है। सरकारी प्रयासों पर ही केवल अमल न रहना बल्कि नियम एवं कानून को कठोरता से पालन करना चाहिए। जनजातीय उपयोजना 1974–1975 में लागू की गयी जो कि पांचवीं पंचवर्षीय योजना का पहला वर्ष था। संक्षेप में जनजातीय अपयोजना की विशेषताएं इस प्रकार रही हैं–

इस तथ्य की पहचान की गई कि जनजातीय क्षेत्रों और जनजातिय समुदायों की विविध प्रकार की समस्याओं का एक समान समाधान नहीं है, इसलिए अलग–अलग स्थिति के अनुसार नीतियां, कार्यक्रम और योजनाएं बनाने की आवश्यकता है।

विकास के लिए एक उपर्युक्त दायरा तय किया गया जिसमें राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर उपयोजना के माध्यम से जनजातीय लोगों पर ध्यान केन्द्रित किया गया। इसमें राज्य और केन्द्र की योजना के अन्तर्गत धन की समुचित मात्रा सुनिश्चित करने और उत्तरदायित्व तय करने तथा धन कहीं और खर्च न किए जाने एवं उसके सदुपयोग के लिए बजटीय प्रबन्ध किया गया। इसमें जनजातीय लोगों का शोषण समाप्त करने के लिए संरक्षणात्मक उपायों को उच्च प्राथमिकता दी जाय। प्रशासनिक और संस्थागत तंत्र का पुनर्गठन किया गया ताकि उसे स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुकूल बनाया जा सके।

जनजातीय विकास कार्यक्रम की दिशा में स्वतंत्रता के बाद पहला महत्वपूर्ण प्रयास था जनजातीय विकास प्रखण्ड की स्थापना करना। अक्टूबर 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम के क्रियान्वयन के उपरान्त इसी श्रृंखला में जनजातीय क्षेत्रों के लिए 1954 में बहुद्देशीय जनजातीय विकास प्रखण्ड की स्थापना की गयी। किन्तु इन प्रखण्डों द्वारा जनजातीय विकास कार्यक्रमों का प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन नहीं किया जा सका। ढेबर आयोग की रिपोर्ट में इनके क्रियान्वयन के प्रति असंतोष व्यक्त किया गया।

जनजातीय विकास को तीव्र करने हेतु पाँचवी योजना के अन्तर्गत 1978 में भारत सरकार ने जनजातीय उपयोजना रणनीति बनाई। इसके दो प्रमुख उद्देश्य थे–

(1) जनजातियों को अन्य गैर जनजाती समूहों के बराबर लाना।

(2) उन्हें विभिन्न स्वार्थ समूहों से सुरक्षित रखना।

जनजातीय क्षेत्र विकास योजना को दो भागों में बाँटा गया–

(क) जनजातीय बहुल क्षेत्र।

(ख) बिखरा हुआ जनजातीय क्षेत्र।

बहुल जनजातीय आबादी वाले क्षेत्रों में भौतिक एवं सामुदायिक विकास के विशिष्ट कार्यक्रम चलाये गये जबकि बिखरी हुई जनजातीय आबादी वाले क्षेत्रों में अन्य सभी गैर जनजातीय समुदायों के साथ जनजातीय समूहों के विकास का समन्वित प्रयास किया गया। 1975 में राष्ट्रपति के अध्यादेश के माध्यम से जनजातियों को ऋणों की दासता एवं ऋणग्रस्तता के दुष्चक्र से मुक्त करने का प्रयास किया गया। 50 प्रतिशत से अधिक जनजातीय आबादी वाले क्षेत्रों में प्रखण्ड स्तर पर 194 समन्वित जनजातीय विकास परियोजनाओं को क्रियान्वित किया गया। 50 प्रतिशत से अधिक जनजातीय आबादी वाले ग्राम समूहों में संशोधन क्षेत्रीय विकास दृष्टिकोण केन्द्रों की स्थापना की गयी। भारत सरकार की 1998–99 की रिपोर्ट के अनुसार ऐसे 252 केन्द्र स्थापित किये जा चुके है। जनजातीय उपयोजना के तहत जनजातीय कल्याण के विविध पहलुओं– कृषि, बागवानी, पशुपालन, वन शिक्षा, सहकारिता, मत्स्य पालन, ग्रामीण एवं लघु उद्योग तथा न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अन्तर्गत पारिवारिक आय बढ़ाने हेतु कल्याण मंत्रालय द्वारा राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में विशेष आर्थिक अनुदान दिये गये हैं। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना से नवम् पंचवर्षीय योजना तक जनजातीय विकास हेतु अनेक प्रयास परिलक्षित होते हैं।

1971–72 में एक महत्वपूर्ण कदम के रूप में श्री काकुलम (आन्ध्र प्रदेश) चाईबासा (बिहार), दांतेवारा और कोंटल (म0 प्र0) गुणपुर और बालीगुडा (उड़ीसा) में केन्द्रीय क्षेत्र के अन्तर्गत 6 प्रायोगिक योजनाएं शुरू की गयी जिनका मूल उद्देश्य मध्य भारत के कुछ जनजातीय क्षेत्रों में कृषि क्षेत्र का

असंतोष दूर करना और वामपंथी उग्रवाद से निपटना था। प्रत्येक परियोजना के लिए एक अलग जनजातीय एजेंसी की स्थापना की गई। प्रत्येक परियोजना में विशुद्ध आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के लिए 1.50 करोड़ रूपये और सड़कों के निर्माण के लिए 50 लाख रूपये व्यय निर्धारित किया गया।

जनजातियों के विकास कार्यक्रम में स्वतंत्रता के बाद संविधान सभा ने ए.वी.ढक्कर की अध्यक्षता में एक उप–समिति का गठन किया जिसकी सिफारिशों के बाद जनजाती क्षेत्रों का विकास समस्त भारतीय के विकास का एक अभिन्न अंग बन गया। संविधान के अन्तर्गत जनजातीय क्षेत्रों में बंधुआ श्रम पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु व्यवहार में ये अधिकांश राज्यों के जनजाती क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। 1976 में जब बॉन्डेड लेबर सिस्टम (अबोलिशन) एक्ट पास हुआ तो यह पाया गया कि देश के 80% बंधुआ मजदूर अनुसूचित जाति एंव जनजाति के हैं। साहूकारों और महाजनों को आदिवासियों पर गिरफ्त को ढीला करने के लिये सरकार ने लार्ज एरिया मल्टीपर्पज सोसाइटीज (एल0ए0एम0पीज) गठित की। परन्तु उसके कार्य की संतोषजनक नहीं पाया। बड़ी संख्या में यह पाया कि आदिवासियों को धोखा देकर उनसे बैंक ऋणों पर हस्ताक्षर करवा लिये गये। सहकारी समितियों ने उत्पादन कार्यो के लिये पर्याप्त ऋण नहीं दिये, कृषि और जंगल को छोटी उत्पादित वस्तुएं नहीं खरीदी, और आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की उचित मूल्य की दुकानें नहीं खोली।

जनजातीय शोध संस्थाएं भी जनजातियों पर शोध और उनके प्रशिक्षण में ही न केवल लाभदायक भूमिका निभाती है, अपितु जनजातियों की उप–योजनाएं के बनाने मे, परियोजनाओं को रपटों और उनके मूल्यांकन में भी सहायता करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मामोरिया, डॉ0 चतुर्भुज, मानव भूगोल के तत्व (1992), साहित्य भवन आगरा पृ0सं0 171
2. हर्सकोविट्स, एम0 जे0 मानव और अपना कार्य 1948
3. शिक्षण एवं शोध अभियोग्यता, प्रतियोगिता साहित्य सीरीज पृ0सं0 192
4. गिलिन और गिलिन, सांस्कृतिक समाजशास्त्र पृ0सं0 282
5. Theodorson and theodorson, A modern Dictionary of Socialogy P.S.26
6. कर्वे इरावती, हिन्दू समाज : एन इन्टरप्रेटेशन
7. Majumdar D.N.(1968), “Approach to tribal problems” in Vidyarthi L.P. (ed) op. cit.
8. जयकान्त, प्रो0 तिवारी, भारत का समाजशास्त्र,उ0प्र0 हिन्दी संस्थान लखनऊ पृ0 सं0 266
9. आहुजा राम, सामाजिक समस्याऐ, रावत पब्लिकेशन्स नई दिल्ली पृ0 सं0 155।
10. पाण्डेय, डॉ जय नारायण, भारत का संविधान, सेन्ट्रल एजेन्सी।

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के सम्बन्ध में मुक्तिबोध के मत का मूल्यांकन

विजय शंकर सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर
श्री अग्रसेन महाविद्यालय, मऊरानीपुर, झांसी

सारांश –

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन ने सम्पूर्ण उत्तर भारत को धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से प्रभावित करने के साथ साथ साहित्य के उत्कर्ष में भी योगदान दिया। इसलिए भक्ति आंदोलन के उद्भव, स्वरूप और संरचना पर विमर्श विद्वानों के मध्य लोकप्रिय विषय रहा है। जार्ज ग्रियर्सन, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा गजानन माधव मुक्तिबोध जैसे विद्वानों ने भक्ति आंदोलन के स्वरूप और संरचना पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए इस आंदोलन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन के स्वरूप को वर्गीय संरचना तथा सामाजिक वर्गों की सहभागिता की दृष्टि विचार किया है। निर्गुण और सगुण शाखाओं पर निम्न जातियों और उच्च जातियों के प्रभाव का आंकलन करते हुए, भक्ति साहित्य की शाखाओं की वैचारिकी, सामाजिक संरचना,जन सहभागिता और क्रांतिकारी चेतना आदि दृष्टियों से मूल्यांकन किया है। यहां पर भक्ति आंदोलन के विषय में मुक्तिबोध के विचारों का मूल्यांकन करते हुए अन्य विचारकों के चिंतन के आलोक में उनके विचारों की मौलिकता तथा उनके चिंतन के महत्व का विश्लेषण किया गया है।

प्रमुख शब्द – बिजली की चमक, मेघ–खण्ड ,वर्णाश्रम–धर्म,पुराणवाद, वर्ग–भेद, जनवादी

चौदहवीं शताब्दी के आसपास उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का उदय इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी के आसपास उत्तर भारत में अचानक एक व्यापक भक्ति आंदोलन का उद्भव हुआ जिसमें सम्पूर्ण हिंदी भाषी क्षेत्र भक्ति के रस में डूब गया। यह आंदोलन एक युगांतकारी घटना के रूप में सामने आता है जिसमें अनेक संत महात्माओं विद्वानों दार्शनिकों से लेकर राष्ट्र के कोटि–कोटि साधारण जन तक भागीदारी करते हैं जिससे राष्ट्र के समस्त अंगो में ऊर्जा का संचार होता है। इस भक्ति आंदोलन के तीव्र प्रवाह ने जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा साम्प्रदायिकता से संबंधित समस्त संकीर्णता और भेदभावों को जलाकर भस्म कर दिया। यह भक्ति आंदोलन एक प्रकार से सांस्कृतिक और राष्ट्रीय नवजागरण के रूप में सामने आता है जिनसे सम्पूर्ण राष्ट्र को उत्तर दक्षिण पूरब पश्चिम सभी ओर स्पंदित किया और राष्ट्र की अभिव्यक्ति के रूप में सामने आया।

इस भक्ति आंदोलन की तीव्र लहर ने हिंदी साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इस काल में सैकड़ों की संख्या में भक्त कवियों का उद्भव हुआ जिन्होनें ईश्वर की भक्ति में प्रचुर साहित्यिक रचनाएं करके अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति भावना प्रकट करते हुए आमजन को भक्ति रस में स्नान कराया तथा साथ ही उत्कृष्ट रचनाओं द्वारा हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाया।

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के उद्भव और स्वरूप के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने अलग–अलग विचार प्रकट किए हैं।

जार्ज ग्रियर्सन इस भक्ति आंदोलन को 'बिजली की चमक के समान' अचानक उत्पन्न आंदोलन कहते हैं। जिसकी उत्पत्ति और उत्पत्ति के कारणों के सम्बन्ध में किसी हिंदू को आभास नहीं था। ग्रियर्सन कहते हैं कि 'बिजली की चमक के समान अचानक समस्त धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आयी और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चित नहीं कर सकता'। यद्यपि ग्रियर्सन ने मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के उदय

को 'ईसाई धर्म के प्रभाव' से सम्बन्धित किया किंतु अलवार संतों की रचनाओं में भक्ति तत्व को देखते हुए ग्रियर्सन का यह मत निर्मूल सिद्ध होता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल यद्यपि भक्ति आंदोलन का मूल उद्भव दक्षिण भारत मानते हैं किंतु उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के व्यापक प्रसार का कारण वे इस्लाम धर्म के प्रभाव या इस्लाम के प्रति प्रतिक्रिया को मानते हैं।

शुक्ल जी कहते हैं कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने के बाद हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश नहीं रह गया। उनके सामने ही उनके देवमंदिर गिराए जाते थे। मूर्तियां तोड़ी जाती थी और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ नहीं कर सकते थे।..... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ? (हिं. सा. इति. , आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ 83)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी , ग्रियर्सन और शुक्ल जी के इस मत से असहमति व्यक्त करते हैं। द्विवेदी जी का मत है कि मध्यकालीन भक्ति आंदोलन ना तो बिजली की चमक के समान अचानक उत्पन्न घटना है और ना यह पराजित जाति हिंदुओं की निराशा से उत्पन्न हुआ है। द्विवेदी जी उत्तर भारत के मध्यकालीन भक्ति आंदोलन का सम्बन्ध दक्षिण भारत के अलवार संतों से जोड़ते हुए कहते हैं कि यह भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत से शुरू होकर धीरे धीरे उत्तर की तरफ़ आया है। इसे वे दक्षिण के वैष्णव भक्तों महाराष्ट्र के संतो तथा सामान्य जनता के भारतीय चिंता का स्वभाविक विकास भी कहते हैं। भक्ति आंदोलन के विषय में शुक्ल जी के मत का विरोध करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि 'इस्लाम के महत्व को नहीं भूल रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है'। (हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 2)

द्विवेदी जी यह भी कहते हैं कि भक्ति आंदोलन का उद्भव दक्षिण भारत में तब हुआ जब वहां इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी अतः भक्ति आंदोलन के उदय को इस्लाम के प्रभाव या प्रतिक्रिया कहने का कड़ा विरोध करते हैं।

द्विवेदी जी कहते हैं कि मध्यकालीन भक्ति आंदोलन 'बिजली की चमक के समान' अचानक नहीं उत्पन्न हुआ बल्कि इसके लिए वर्षों से मेघ खण्ड एकत्र हो रहे थे।

यह भी ध्यान देने वाली बात है कि शुक्ल जी ने इस्लाम को भक्ति आंदोलन के 'उदय का कारण' नहीं माना है, जैसा कि उन पर आरोप लगाया जाता है, बल्कि वे कहते हैं कि इस्लाम के प्रभाव के कारण भक्ति आंदोलन को उत्तर भारत में फैलने का अवकाश मिला। शुक्ल जी भी यह मानते हैं कि भक्ति आंदोलन का प्रारंभ दक्षिण भारत से हुआ और वह धीरे–धीरे उत्तर भारत की ओर आया था। किंतु दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन उतना प्रभावकारी नहीं था जितना उत्तर भारत में प्रभावशाली हुआ इसका मुख्य कारण वे पूर्व प्रचलित धर्मों का तिरोभाव और इस्लाम के प्रभाव को मानते हैं। 'भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर धीरे धीरे आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते जनता के हृदय में फैलने का पूरा अवकाश मिला'। (हिं. सा. इ. रामचंद्र शुक्ल)

भक्ति आंदोलन के स्वरूप और उस पर तत्कालीन सामाजिक संरचना के प्रभाव के सम्बन्ध में गजानन माधव मुक्तिबोध ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं। मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन के संबंध में अपने एक लेख 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' में अपने विचार व्यक्त किए हैं जो उनकी पुस्तक 'नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध' में संकलित है।

भक्ति आंदोलन पर अपने विचार प्रकट करने से पहले मुक्तिबोध भक्ति कालीन सामाजिक संरचना पर विचार करना आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि ''किसी भी साहित्य का ठीक ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता है जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बनने वाले सांस्कृतिक इतिहास की ठीक ठीक जान लें''। (नयी कविता का आत्म संघर्ष तथ अन्य निबंध पृष्ठ 86)

अधिकांश विद्वानो का मत है कि मध्यकालीन भक्ति आंदोलन में सभी सामाजिक वर्गों ने योगदान दिया था और भक्ति की तीव्र लहर ने वर्ग भेदों को मिटा दिया था। किंतु मुक्तिबोध के अनुसार भक्ति आंदोलन में भले ही समाज के सभी वर्गों ने भाग लिया था लेकिन इसके स्वरूप और संरचना पर विचार करने पर स्पष्ट रूप से उच्च जाति और निम्न जाति के वर्गों को पहचाना जा सकता है।

मुक्तिबोध भक्ति आंदोलन के निर्गुण और सगुण मत में सामाजिक वर्गों की पहचान करते हुए क्रमशः निम्न जाति और उच्च जाति से संबंधित करते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार भक्ति आंदोलन का निर्गुण मत, महाराष्ट्र से होते हुए उत्तर भारत आया था। मराठी संतो में भी स्पष्ट रूप से दो वर्गों की पहचान की जा सकती हैं– ब्राह्मण संत और ब्राह्मणेतर संत। मुक्तिबोध के अनुसार यद्यपि सभी मराठी संतों के विचारों में अनेक समानताएं थी लेकिन ब्राह्मणेतर वर्ग के संतो की काव्य भावना अधिक लोकतांत्रिक और मानवीय थी। मुक्तिबोध के अनुसार ज्ञानेश्वर और तुकाराम जैसे संतों ने गरीब किसानों और मजदूरों के बीच भक्ति रस का संचार किया। इसी क्रम में मुक्तिबोध शिवाजी का उल्लेख भी करते हैं जो स्वयं मराठा क्षत्रिय थे लेकिन उनके अधिकांश सेनापति और सैनिक निम्न जातियों से आये थे।

मुक्तिबोध के अनुसार उत्तर भारत में भी प्रारंभ में भक्ति आंदोलन का नेतृत्व निर्गुण वादियों के हाथ में था जिसमें अधिकांशतः निम्न जाति से आने वाले गरीब और शोषित वर्गों के लोग थे। उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के प्रसार में इन्हीं लोगों का योगदान सबसे ज्यादा है। इस मत में उत्पन्न हुए कबीर रैदास आदि संतों की बानियों का संदेश भी बहुत क्रांतिकारी था। कबीर आदि ने निम्न जातियों में आत्मसम्मान और गौरव की भावना पैदा की तथा उन्हें कुरीतियों अंधविश्वासों और भेदभाव से दूर करने का प्रयास किया। मुक्तिबोध के अनुसार भक्ति आंदोलन ने निम्न वर्ग की जातियों को सबसे अधिक प्रभावित किया। निम्न वर्ग की जनता को इतना अधिक सिद्ध और नाथों ने भी नहीं प्रभावित किया था।

'भक्ति आंदोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ था उतना किसी अन्य आंदोलन का नहीं । पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए। कबीर रैदास, नाभा, सिम्पी, सेना नाई आदि आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की' (नयी कविता का आत्म संघर्ष... पृष्ठ 88)।

मुक्तिबोध जिस तरह निर्गुण मत को निम्न जातियों से संबंधित करते हैं उसी प्रकार से वे सगुण मत को उच्च जातियों से सम्बन्धित करते हैं। उनके मतानुसार निर्गुण और सगुण मत के बीच संघर्ष मुख्यतः निम्न और उच्च जातियों के संस्कारों का संघर्ष था जिसमें अंततः उच्च जातीय वर्ग या सगुण मत विजयी हुआ।

मुक्तिबोध आगे कहते हैं कि निर्गुण मत पर, सगुण मत की विजय का प्रारंभिक रूप कृष्ण भक्ति शाखा के रूप में दिखाई देता है। मुक्तिबोध के अनुसार सगुण मत की कृष्ण भक्ति शाखा में भले ही उच्च वर्गीय संस्कार थे लेकिन साथ ही इसमें निम्न वर्गीय भक्ति आंदोलन का भी प्रभाव दिखाई देता है। कृष्ण भक्ति शाखा और कृष्ण के चरित्र में भी जातीय भेदभाव का विरोध दिखाई देता है। इसलिए कृष्ण भक्ति का प्रसार निम्न जातियों के बीच भी हुआ।

मुक्तिबोध आगे कहते हैं कि कृष्ण भक्ति के माध्यम से सगुण शाखा में ब्राह्मणवादी उच्च वर्ग के संस्कारों का आंशिक प्रभाव था । किंतु राम भक्ति शाखा तक आते आते सगुण भक्ति शाखा में ब्राह्मणों का प्रभुत्व पूरी तरह स्थापित हो गया और उन्होंने इसके साथ ही वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा कर दी। मुक्तिबोध कहते हैं कि तुलसीदास ने भी यद्यपि निम्न जातीय भक्ति स्वीकर की, किंतु उनको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। मुक्तिबोध ये स्वीकर करते हैं कि तुलसीदास एक सच्चे संत थे और उनकी लोकप्रियता जितनी उच्च वर्ग में थी उसी तरह साधारण जनता में भी लोकप्रिय थे। किंतु मुक्तिबोध आगे ये भी कहते हैं कि कट्टरपंथियों का एक वर्ग अपने हित के लिए जिस तरह शिवाजी का उपयोग करता है उसी तरह तुलसीदास का भी उपयोग करता है।

मुक्तिबोध कहते हैं कि साधारण जनता में तुलसीदास की लोकप्रियता का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी रहा है कि तुलसीदास जी ने राम को साधारण जनता के त्राणकर्ता के रूप में चित्रित किया है। जनता ने राम को गुह ,निषाद आदि को हृदय से लगाने वाले के रूप में पाया। किंतु मुक्तिबोध कहते हैं कि तुलसीदास जी ने ये सब चित्रण भी सामाजिक ऊंच–नीच को भी ध्यान में रखते हुए किया है। मुक्तिबोध कहते हैं कि तुलसीदास की दृष्टि जनवादी नहीं थी। वे प्रेम के साथ–साथ सामाजिक रीतियों का भी पालन करते हैं। इसलिए तुलसीदास ने अंततः वर्णाश्रम धर्म की स्थापना में सहयोग दिया। मुक्तिबोध ये भी कहते हैं कि तुलसीदास द्वारा वर्णाश्रम धर्म की स्थापना के बाद हिंदी साहित्य में फिर से कोई महान भक्त कवि नहीं हुआ तो इसमें आश्चर्य क्या है।

मुक्तिबोध कहते हैं कि भक्ति आंदोलन में यह वर्गीय प्रभाव दार्शनिक मतों में भी दिखाई देता है। ज्ञानमार्गी भक्ति मार्ग में पुराणमत का कोई स्थान नहीं था लेकिन कृष्ण भक्ति के माध्यम से भक्ति आंदोलन में पुराण कथाओ का प्रवेश हुआ और रामभक्ति शाखा के माध्यम से पुराणमत का पूर्ण प्रभाव स्थापित हुआ तथा वर्णाश्रम धर्म की विजय का उद्घोष हो गया।

इस तरह मुक्तिबोध तुलसीदास को साहित्य द्वारा वर्णाश्रम धर्म की पुनः प्रतिष्ठा द्वारा आगे प्रगति का मार्ग बंद करने का उत्तरदायी मानते हैं। 'वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना के लिए सिर्फ एक ही कदम आगे बढ़ना जरूरी था। तुलसीदासजी के अदम्य व्यक्तित्व ने इस कार्य को पूरा कर दिया। इस प्रकार भक्ति आंदोलन, जिस पर प्रारंभ में निम्नजातियों का सर्वाधिक जोर था, उस पर अब ब्राह्मणवाद पूरी तरह छा गया और सुधारवाद के विरुद्ध पुराणवाद की विजय हुई'। (नयी कविता का आत्म संघर्ष, पृष्ठ– 96)

इस प्रकार मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन विश्लेषण वर्गीय आधार पर करते हुए उसके महत्व और सीमाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया। किंतु उन्होंने वर्गीय आधार पर विश्लेषण करते हैं केवल सामाजिक वर्गों या जातीय वर्गो का ही उल्लेख किया है। जबकि उच्च और निम्न वर्ग के वर्गीकरण का आधार आर्थिक वर्ग भी हो सकता था जिसकी उन्होंने उपेक्षा की है।

मुक्तिबोध ने कहा है कि निर्गुण भक्ति आंदोलन का नेतृत्व निम्न जातीय वर्गों के हाथ में था इसलिए इसमें सामाजिक व्यवस्था भेदभाव आदि के लिए क्रांतिकारी स्वर अत्यंत तीव्र था। लेकिन वे इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि निर्गुण भक्ति आंदोलन को वैचारिक दार्शनिक पृष्ठभूमि देने वाले रामानंद जैसे आचार्य प्रायः उच्च जातियों से थे। साथ ही अनेक निर्गुण कवि भी उच्च जातीय वर्गो से थे। यह तथ्य जरूर महत्वपूर्ण निर्गुण भक्ति आंदोलन में निम्न वर्गीय कवियों की संख्या अधिक है।

मुक्तिबोध ने धार्मिक आंदोलनों का विश्लेषण सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से किया है जबकि धार्मिक आंदोलन का स्वरूप और उद्देश्य सामाजिक और राजनैतिक लक्ष्य से अलग होता है। धर्म व्यक्तिगत आस्था और विश्वास पर आधारित होता है और यह आंतरिक शांति का लक्ष्य लेकर चलता है। जबकि सामाजिक और राजनैतिक उद्देश्य भौतिक सुखों का लक्ष्य लेकर चलते हैं। इसलिए सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्यों के आधार पर धर्म का विश्लेषण करने पर अपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं।

मुक्तिबोध ने तुलसीदास और रामभक्ति शाखा को भक्ति आंदोलन में पुराणवादी चेतना लाने और वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा करने का उत्तरदायी माना है। किंतु वे यहाँ भी आंशिक रूप से चूकते है। तुलसीदास का उद्देश वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा करना नहीं था। वे मात्र राम के चरित का गायन कर रहे थे। राम के चरित पर इससे पूर्व जो साहित्य रचा गया था तुलसीदास जी ने उससे अधिक विचलन नहीं किया है और ना विचलन कर सकते हैं।

मुक्तिबोध ने यह भी कहा कि तुलसीदास के बाद रामभक्ति शाखा में कोई बड़ा कवि नहीं हुआ है और वे इसका कारण तुलसीदास जी द्वारा रामभक्ति शाखा में वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा माना है। किंतु उनका यह मत भी अधिक तर्कसंगत नहीं है। तुलसीदास जी के बाद भी हिंदी में अनेक कवियों जैसे– केशवदास, ईश्वरदास, गुरु गोविंद सिंह, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने रामकथा से संबंधित रचनाएं लिखी

है । किंतु उनका महत्व इसलिए कम किया जाता है क्योंकि उनकी तुलना सीधे सीधे तुलसीदास से की जाती है। प्रत्येक साहित्य में एक दो महान रचनाकार होते हैं, किंतु इससे दूसरे रचनाकार का महत्व कम नहीं हो जाता है।ऐसा तो संस्कृत साहित्य के विषय में भी कहा जा सकता है कि कालिदास के बाद उनके जैसा कोई महाकवि नहीं हुआ है । इसलिए तुलसीदास के बाद रामभक्ति शाखा में कोई उनके जैसा महान कवि ना होने का संबंध, 'वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा' से नहीं नहीं जोड़ना चाहिए।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन के स्वरूप का मूल्यांकन वर्गीय दृष्टि और जनवादी दृष्टि से करते हुए एक नवीन दृष्टिकोण दिया है। किंतु यह दृष्टिकोण भक्ति आंदोलन के स्वरूप का समग्र मूल्यांकन करने के लिए अपर्याप्त है।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. जैन, नेमिचंद्र(सं.), मुक्तिबोध रचनावली, राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली,2011.
2. शुक्ल, रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2010
3. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2015
4. द्विवेदी, हजारी प्रसाद , हिंदी साहित्य उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली,1990
5. गजानन माधव, मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध, विश्वभारती प्रकाशन नागपुर,1977
6. मिश्र, शिवकुमार, भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, प्रयागराज, 2005

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

THEORETICAL ORIENTATIONS OF CRIMINAL BEHAVIOR: A SOCIOLOGICAL ANALYSIS

Dr. Ranjeeta Garg.
Asstt. Professor in Sociology.
SMM Govt Girls College, Bhilwara.
ranjeeta.garg@gmail.com

ABSTRACT:
Crime is a highly complex phenomenon that changes across cultures and across time. Activities that are legal in one country are sometimes illegal in others. As cultures change over time, behaviors that once were not criminalized may become criminalized. As a result, there is no single answer to the question, 'what is crime?' and therefore no single answer to 'what causes crime?' Different types of crime often have their own distant causes.
Sociological theories of crime try to interpret crime through societal conditions and explain deviant or criminal behavior through the circumstances in which they occur. Sociological theories aim to uncover the intricacies of crime in society. They extend from an examination of the smallest details of street encounters between youth to comparative analysis of the larger picture of violent, sexual and property related crimes.
The sociological approaches theorize that crime is shaped by factors external to the individual; their experiences within the neighborhood, the peer group and the family.
It suggest that crime is caused by anomie, or the dissociation of the individual from the collective conscience; by social disorganization ; by anomie resulting from a lack of opportunity to achieve aspiration; by the learning of criminal values and behavior; and by the failure to properly socialize individuals.
The present paper is an attempt to present a brief overview of all the theoretical orientations propounded to understand crime causation. Some scholars have classified its component theories by their political learning, some by their foundational assumptions, some by their chronology, some by their propounders and others by schools of thoughts.
The organization of this paper will follow intellectual themes while selecting the ideas of contemporary interest and some of the older arguments which are relevant in present circumstances.
Keywords*:* crime causation, anomie, criminality, social disorganization, social learning, differential association, sub culture, labeling

There are numerous hypotheses as to why people commit crimes. Some theorize that committing a crime is rational, with the offender considering the benefits and drawbacks of doing so before the criminal activity. Others may hold the opinion that criminals are inherently different from law-abiding people in terms of biology or psychology. However, the one thing these two theories have in common is that they both emphasize the role of the criminal. In other words, they view crime as an individual issue rather than one that affects the entire community. Different types of crime often have their own distant causes. As a result, there is no single answer to the question, 'what is crime?' and therefore no single answer to 'what causes crime?'

Sociology on the other hand, argues that society shapes the circumstances in which criminal activity occurs. Put differently, societal conditions trigger individuals to commit crime, thus proposing that criminal behavior is not natural. It is not innate to humans but rather

circumstantial. Sociological theories of crime try to interpret crime through societal conditions and explain deviant or criminal behavior through the circumstances in which they occur. Sociological theories aim to uncover the intricacies of crime in society.

The sociological approaches theorize that crime is shaped by factors external to the individual; their experiences within the neighborhood, the peer group and the family. It means that society 'construct' criminality. It attempts to connect the issues of the individual's criminality with the broader social structures and cultural values of society.

Some scholars have classified its component theories by their political learnings, some by their foundational assumptions, some by their chronology, some by their propounders and others by schools of thoughts. The present paper is an attempt to present a brief overview of all the theoretical orientations propounded to understand crime causation.

Like any scheme of classification, the present description will face problems of anomaly and overlap. But the larger contours of sociological theories of crime need to be furnished here. The organization of this paper follows intellectual themes more closely than chronologies or hierarchies of thought. An attempt has been made to select only a few illustrative ideas that are of contemporary interest, as well as discussing some of the older arguments that informed them.

Anomie theory:

Anomie is a social condition characterized by the dismantling or destruction of the moral principles, guidelines or standards that people generally aspire to.

The anomie theory is one of the hardest researched ideas of criminological theory which influences and guides the contemporary theories till date. Historically, many theorists have believed that crime is a consequence of defective social regulations, lack of restraints and moral directions. But the formal birth of this idea in the form of a theory came into existence in the works of Emile Durkheim. He came up with the concept of anomie in his works 'The Division of Labour' (1893) and 'Suicide' (1897). He explained the breakdown of social norms that often accompanies rapid social change.

He asserted that French society was in an uneasy transition from one state of solidarity or integration to another. A society without an elaborate division of labour rested on mechanical solidarity of people who reacted much alike to all situations and lend objectivity to moral response, and bringing a potential for massive disapproval and repression to bear on the deviant. Such a social order was conceived to lie in the pre industrial society.

The industrial society is distinguished by a state of organic solidarity based on complex division of labour. People would then be allocated by merit and effort to very diverse positions. They might no longer think wholly in unison, their moral response might not be substantial and unanimous, but they believe in a system of restitutive justice that amends for losses suffered.

In that transition where capitalism was imposed as forced division of labour, people were obliged to work in a society that exercised an incomplete control over their desires. Moral regulation was relatively deficient and people were correspondingly free to deviate.

In his second reading on anomie in 'Suicide', Durkheim argues that people are not endowed at birth with fixed appetites and ambitions. On the contrary, their purposes and aspirations are shaped by the generalized opinions and reactions of others, by a collective conscience. When society is disturbed by rapid change or major disorder, however, people may be longer find

their ambitions subject to effective social discipline. In extreme cases, this condition may lead man to commit suicide and homicide.

American sociologist RK Merton has discussed the theory of anomie in a different way. He argues that crime occurs when there is a gap between the cultural goals of a society (e.g. material wealth, status etc) and the structural means (e.g. education, employment etc) to achieve these goals. This strain between means and goals results in frustration and resentment, and encourages some people to use illegitimate or illegal means to secure success. Merton states that anomie refers to psychological state of confusion caused by rapidly changing industrial evolution and accompanying social dislocation and the effect this change has on people. This state is conceptualized as 'normlessness'. It is a feeling, an attitude, a psychological perspective that causes those who experience to feel confused, frustrated, annoyed, hostile, embarrassed and even resigned or doomed. According to this theory criminal behavior arises when confronted with the inability to achieve success and when faced with the strain that ensues following the realization that personal talent, training or desires cannot achieve success.

Merton argues that American culture emphasized the goals of monetary success at the expense of adhering to the legitimate means to achieve that success. This results in high rates of profit oriented crimes. In short Merton's anomie/strain theory posits that the cultural values and social structures of society put pressure on individual citizens to commit crime.

Cloward and Ohlin (1960) modified Merton's theory. They described the consequences of young American men not only being pushed into capitalism by the difficulties of acquiring money and position in conventional ways, but also being pulled by the lure of lucrative and unconventional criminal careers.

Another theoretical input in Anomie theory is given by Jock Young who discussed Merton's theory in his book, 'The Exclusive Society' (1990). He argues that the dismantling of the welfare state, alongside increasing disparities between the rich and the poor have served to exclude disadvantaged groups. According to Young, contemporary consumer capitalism places greater emphasis on conspicuous consumption and material success, intensifying feelings of deprivation experienced by the less successful.

Robert Agnews (1992) also finds strain as the major cause of crime. He describes two general categories of strain that contribute to crime (1) others prevent you from achieving your goals, (2) others take things you value or present you with negative or noxious stimuli. Agnews and others focus on the failure to achieve three related goals: money, status/respect and for adolescents- autonomy from adults.

Social Control theory:

This theory does not address the causes of crime but rather focuses on why people obey the law. In other words, it explains conformity rather than deviance. It is nontraditional criminological perspective because they seek to explain why individuals conform to social norms. This theory is associated with the work of Travis Hirschi, an American social scientist who puts the issue baldly: "The question 'why they do it?' is simply not the question; the theory is designed to answer. The question is 'why don't we do it?' (1969). According to control theorists, people do not engage in crime because of the controls or restraints placed on them. These controls may be viewed as barriers to crime-they refer to those factors that prevent them from engaging in crime. So while strain or anomie theory focus on those factors

that push or lead the individual into crime, control theory focuses on the factors that restrain the individual from engaging in crime. Control theories describe the major types of social control or the major restraints to crime. The theory goes on to argue that people differ in their level of control or in the restraints they face. These differences explain differences in crime: some people are freer to engage in crime than others.

Hirschi proposed that people generally conform to social norms due to strong social bonds. Conversely, they engage in delinquent acts when these bonds are broken or weak.

The key components of social bonds are:

 Attachment: The stronger the attachment and the stronger the expectations, the more likely it is that the individual will conform.

 Commitment: The more an individual commits himself/herself to a particular lifestyle (for example, being married, being a parent, having a job), the more he/she has to lose if he/she becomes involved in crime (and so deviate from the lifestyle).

Involvement: The more time the individual spends engaging in law abiding behavior, the less time he/she has to engage in law breaking behavior.

 Belief: This relates to upbringing. If an individual has been brought up to be law abiding, they are less likely to become involved in crime.

Michael Gottfredson and Travis Hirschi later proposed a general theory of crime as being the result of low self-control. Self-control theory focuses on certain stable characteristics that people have after age eight or so. People with low self-control, tend to be impulsive, violent and insensitive to others and hence have higher possibility to commit crime.

Gerald Patterson and associates, Michael Gottfredson, Robert Sampson and John Laub have also extended Hirschi's theory in important ways. Rather than describing the different versions of control theory, an integrated control theory is presented. This integrated theory lists three major types of control: direct control, stake in conformity, and internal control.

Direct control: When most people think of control they think of direct control. Such control may be exercised by family members, school officials, coworkers, neighborhood residents, police, and others. Family members, however, are the major source of direct control because of their intimate and informal relationship with the person.

Stake in conformity: The efforts to directly control behavior are a major restraint to crime. These efforts, however, are more effective with some people than with others. For example, all juveniles are subject to more or less the same direct controls at school: the same rules, the same monitoring, and the same sanctions. Yet some juveniles are very responsive to these controls while others commit deviant acts on a regular basis. One reason for this is that some juveniles have more to lose by engaging in deviance. These juveniles have what has been called a high "stake in conformity," and they do not want to jeopardize that stake by engaging in deviance.

Internal control: People sometimes find themselves in situations where they are tempted to engage in crime and the probability of external sanction is low. Yet many people still refrain from crime. The reason is that they have high internal control. They are able to restrain themselves from engaging in crime. Internal control is a result of their beliefs regarding crime.

Finally, some people have personality traits that make them less responsive to the above controls and less able to restrain themselves from acting on their immediate desires. For example, if someone provokes them, they are more likely to get into a fight. Or if someone offers them drugs at a party, they are more likely to accept. They do not stop to consider the long-term consequences of their behavior. Rather, they simply focus on the immediate, short-term benefits or pleasures of criminal acts. Such individuals are said to be low in "self-control."

In sum, crime is less likely when others try to directly control the person's behavior, when the person has a lot to lose by engaging in crime, and when the person tries to control his or her own behavior.

Subcultural Theory:

Subcultural theorists, in contrast to social control theorists, highlight the peer group that encourages individuals to commit crimes. The theory also explains non-utilitarian crimes such as vandalism as a response to marginalization.

This perspective explains crime and deviance as a characteristic of certain subcultures and mainly focuses on crimes by the working class. It argues that deviance is the outcome of status frustration**.** Linked to anomie and strain are concepts of status frustration and differential opportunity, which North American subcultural theorists used to explain the delinquent activities of disadvantaged groups in the 1950s and 60s.

Status frustration, a concept created by **A. Cohen** (1955), describes the feelings of individuals who desire social status but who lack the opportunities or means to succeed. This causes a feeling of inadequacy and personal failure. Cohen argued that lower-class youths could not aspire to middle-class cultural goals and so, frustrated, they rejected them to create their own subcultural system of values. In school, for example, they gain status and respect by meeting the expectations of peers not teachers, engaging in delinquent activities such as smoking, truanting, and acting up in class.

As a result, these people, who feel excluded from mainstream culture, end up joining **subcultures**, which have their own rules and ways of attaining high status (often related to deviant acts). They are subsequently rewarded for being deviant and are given the recognition they never received from wider society.

Richard Cloward and Lloyd Ohlin (1960) pointed to the differential opportunity structures available to lower-class young people in different neighborhoods: criminal (making a living from crime), conflict (territorial violence and gang fighting) and retreatist (drugs and alcohol). The theory of differential opportunities combines learning, subculture, anomie and social disorganization theories and expands them to include the recognition that for criminal behavior there must also be access to illegitimate means.

On the one hand, the approach is based on Sutherland, starting from the assumption that criminal motives, techniques and rationalizations are learned through criminal associations. On the other hand, Cloward and Ohlin share with Merton and Cohen the notion that deviant behavior is a consequence of the stratum-specific pressure to adapt, or more precisely of blocked access to legitimate means, and that this adaptation typically takes place collectively through interaction processes in groups.

Cloward and Ohlin answer to why not all persons suffering from adaptation problems become criminals. For example, drug trafficking is more difficult to access in some parts of the city than in others. A person who intends to become a drug dealer not only requires drug suppliers, but also a customer base and a street corner where he can sell his drugs. Access to these means, however, is not open to everyone. It requires relationships with experienced people who are willing to share their knowledge and professional network.

The opportunity to break into cars also depends on the social situation of the environment, the car owner and the presence of possible accomplices. Socially disorganized neighborhoods thus, according to Shaw and McKay's theory, offer more access to criminal behavior than others.

In the early 20th century Clifford Shaw and Henry McKay investigated the migration of southern African Americans and eastern European Americans to Chicago and other cities. Most of these immigrants were poorly educated and many did not speak English. Then cities expanded to accommodate these people and many of the more affluent citizens moved out to the suburbs. The poor citizens were left in the run-down cities. Shaw and McKay propounded that social conditions in neighborhoods caused delinquency (Cultural Deviance Theory). They found that in Chicago crime was at its worst in the center of the city and the area immediately surrounding it. It decreased as they looked further away from the city center. Thirty years later, the same findings occurred even though most of the residents from 30 years ago had moved, but the poverty remained.

Social Learning Theory:

The social learning theory of crime argues that some people learn to commit crimes through the same process through which others learn to conform. The theory assumes that people, at birth, have neither a motivation to commit crime nor to conform.

Social learning theory is a leading explanation of criminal behavior which maintains that crime is learned and more likely to occur when individuals differentially associate with people who are criminally involved, experience greater exposure to delinquent models, anticipate or actually receive more rewards and fewer punishments for crime, and have a greater number of definitions favorable to crime.

Social learning theory has its roots in the work of Edwin Sutherland differential association. Sutherland's theory of differential association stated that crime is learned through interactions with close associates. American criminologist Ronald Akers' social learning theory was developed around the theoretical conceptions of differential association and the principles of behavior science. Akers also built on the work of psychologist Albert Bandura as his social learning theory evolved.

Akers' theory states that people develop motivation and skills to commit crime through the people whom they associate with. In simple terms, people learn new behaviors, values, and attitudes by direct experience and observing other people's behavior through positive or negative stimuli.

People learn to engage in crime, primarily through their association with others. They are reinforced for crime, they learn beliefs that are favorable to crime, and they are exposed to criminal models. As a consequence, they come to view crime as something that is desirable or at least justifiable in certain situations. Juveniles learn to engage in crime in the same way they learn to engage in conforming behavior: through association with or exposure to others.

Primary or intimate groups like the family and peer group have an especially large impact on what we learn. However, one does not have to be in direct contact with others to learn from them; for example, one may learn to engage in violence from observation of others in the media. Social learning theory involves a description of three mechanisms by which individuals learn to engage in crime from others: differential reinforcement, beliefs, and modeling.

Differential reinforcement of crime: Individuals may teach others to engage in crime through the reinforcements and punishments they provide for behavior. Crime is more likely to occur when it (a) is frequently reinforced and infrequently punished; (b) results in large amounts of reinforcement (e.g., a lot of money or pleasure) and little punishment; and (c) is more likely to be reinforced than alternative behaviors.

Reinforcements may be positive or negative. In positive reinforcement, the behavior results in something good—some positive consequence. This consequence may involve such things as money, the pleasure associated with drug use, attention from parents or friends, or an increase in social status. In negative reinforcement, the behavior results in the removal of something bad. For example, one starts taking drugs so that to stop his friends from calling him coward. The individual's drug use has been negatively reinforced.

According to social learning theory, some individuals are in environments where crime is more likely to be reinforced (and less likely to be punished). Sometimes this reinforcement is deliberate. For example, the parents of aggressive children encourage and reinforce aggressive behavior outside the home. At other times, the reinforcement for crime is less deliberate. For example, parents fulfill the illogical demands of children to avoid their aggression. Without intending to do so, the parent has just reinforced the child's aggressive behavior.

Data indicate that individuals who are reinforced for crime are more likely to engage in subsequent crime.

Beliefs favorable to crime: Other individuals may not only reinforce crime, they may also teach beliefs favorable to crime. Most individuals, of course, are taught that crime is bad or wrong. They eventually accept or "internalize" this belief, so they are less likely to engage in crime. Some individuals, however, learn beliefs that are favorable to crime and they are more likely to engage in crime.

Few people, including criminals, generally approve of serious crimes like burglary and robbery. Surveys and interviews with criminals suggest that beliefs favoring crime fall into three categories. And data suggest that each type of belief increases the likelihood of crime.

First, some people generally approve of certain minor forms of crime, like certain forms of consensual sexual behavior, gambling, soft drug use, and for adolescents, alcohol use and curfew violation.

Second, some people conditionally approve of or justify certain forms of crime, including some serious crimes. These people believe that crime is generally wrong, but that some criminal acts are justifiable in certain conditions. Many people, for example, will state that fighting is generally wrong, but that it is justified if you have been insulted or provoked in some way. Gresham Sykes and David Matza have listed some of the more common justifications used for crime. Several theorists have argued that certain groups in our society especially lower-class, young, minority males are more likely to define violence as an

acceptable response to a wide range of provocations and insults. Data in this area are somewhat mixed, but recent studies suggest that these people are more likely to hold beliefs favorable to violence.

Third, some people hold certain general values that are conducive to crime. These values do not explicitly approve of or justify crime, but they make crime appear a more attractive alternative than would otherwise be the case. Theorists such as Matza and Sykes have listed three general sets of values in this area: an emphasis on "excitement," "thrills," or "kicks"; a disdain for hard work and a desire for quick, easy success; and an emphasis on toughness or being "macho." Such values can be realized through legitimate as well as illegitimate channels, but individuals with such values will likely view crime in a more favorable light than others.

The imitation of criminal models: Behavior is not only a function of beliefs and the reinforcements, but also of the behavior of those around. In particular, individuals often imitate or model the behavior of others especially when they like or respect these others and have reason to believe that imitating their behavior will result in reinforcement. For example, individuals are more likely to imitate others' behavior if they observe them receive reinforcement for their acts.

Data indicate that the people one associates with have a large impact on whether or not one engages in crime, and that this impact is partly explained by the effect these people have on one's beliefs regarding crime, the reinforcements and punishments one receives, and the models one is exposed to.

Labeling theory:

The above theories examine how the social environment causes individuals to engage in crime, but they typically devote little attention to the official reaction to crime, that is, to the reaction of the police and other official agencies. Labeling theory focuses on the official reaction to crime and makes a rather counterintuitive argument regarding the causes of crime.

Labeling theory holds that deviance is not inherent in an act, but instead focuses on the tendency of majorities to negatively label minorities or those seen as deviant from standard cultural norms.

Labeling theory is a theory stemming from a sociological perspective known as "symbolic interactionism," a school of thought based on the ideas of George Herbert Mead, John Dewey, W.I. Thomas, Charles Horton Cooley, and Herbert Blumer, among others. The first as well as one of the most prominent labeling theorists was Howard Becker.

A question became popular with criminologists during the mid-1960s: What makes some acts and some people deviant or criminal? During this time, scholars tried to shift the focus of criminology toward the effects of individuals in power responding to behavior in society in a negative way; they became known as "labeling theorists" or "social reaction theorists."

In 1969, Blumer emphasized the way that meaning arises in social interaction through communication, using language and symbols. The focus of this perspective is the interaction between individuals in society, which is the basis for meanings within that society. These theorists suggested that powerful individuals and the state create crime by labeling some behaviors as inappropriate. The focus of these theorists is on the reactions of members in society to crime. These theorists shaped their argument around the notion that even though some criminological efforts to reduce crime are meant to help the offender (such as

rehabilitation efforts), they may move offenders closer to lives of crime because of the label they assign the individuals engaging in the behavior. As members in society begin to treat these individuals on the basis of their labels, the individuals begin to accept the labels themselves. In other words, an individual engages in a behavior that is deemed by others as inappropriate, others label that person to be deviant, and eventually the individual internalizes and accepts this label. This notion of social reaction is central to labeling theory. Critical to this theory is the understanding that the negative reaction of others to a particular behavior is what causes that behavior to be labeled as "criminal" or "deviant".

Becker defined deviance as a social creation in which "social groups create deviance by making the rules whose infraction constitutes deviance, and by applying those rules to particular people and labeling them as outsiders." Becker grouped behavior into four categories: falsely accused, conforming, pure deviant, and secret deviant. Falsely accused represents those individuals who have engaged in obedient behavior but have been perceived as deviant; therefore, they would be falsely labeled as deviant. Conforming represents those individuals who have engaged in obedient behavior that has been viewed as obedient behavior. Pure deviant represents those who have engaged in rule breaking or deviant behavior that has been recognized as such; therefore, they would be labeled as deviant by society. Secret deviant represents those who have engaged in rule breaking or deviant behavior but have not been perceived as deviant by society; therefore, they have not been labeled as deviant.

According to sociologists like Emile Durkheim, George Herbert Mead, and Kai T. Erikson, deviance is functional to society and keeps stability by defining boundaries. In 1966 Erikson expanded labeling theory to include the functions of deviance, illustrating how societal reactions to deviance stigmatize the offender and separate him or her from the rest of society. The result of this stigmatization is a self-fulfilling prophecy in which the offenders come to view themselves in the same ways society does.

Labeling theory states that people come to identify and behave in ways that reflect how others label them. Describing someone as a criminal, for example, can cause others to treat the person more negatively, and, in turn, the individual acts out. Deviance is therefore not a set of characteristics of individuals or groups but a process of interaction between deviants and non-deviants and the context in which criminality is interpreted.

Police, judges, and educators are the individuals tasked with enforcing standards of normalcy and labeling certain behaviors as deviant in nature. By applying labels to people and creating categories of deviance, these officials reinforce society's power structure. Often, the wealthy define deviancy for the poor, men for women, older people for younger people, and racial or ethnic majority groups for minorities. In other words, society's dominant groups create and apply deviant labels to subordinate groups.

Once a person is identified as deviant, it is extremely difficult to remove that label. The individual becomes stigmatized as a criminal and is likely to be considered untrustworthy by others. For example, convicts may struggle to find employment after they're released from prison because of their criminal background. This makes them more likely to internalize the deviant label and, again, engage in misconduct.

According to labeling theory, official efforts to control crime often have the effect of increasing crime. Individuals who are arrested, prosecuted, and punished are labeled as

criminals. Others then view and treat these people as criminals, and this increases the likelihood of subsequent crime for several reasons. Labeled individuals may have trouble obtaining legitimate employment, which increases their level of strain and reduces their stake in conformity. This reduces their bond with conventional others and fosters the social learning of crime. Finally, labeled individuals may eventually come to view themselves as criminals and act in accord with this self-concept.

Labeling theory was quite popular in the 1960s and early 1970s, but then fell into decline—partly as a result of the mixed results of empirical research. Some studies found that being officially labeled a criminal (e.g., arrested or convicted) increased subsequent crime, while other studies did not. Recent theoretical work, however, has revised the theory to take account of past problems. More attention is now being devoted to informal labeling, such as labeling by parents, peers, and teachers. Informal labeling is said to have a greater effect on subsequent crime than official labeling. Ross Matsueda discusses the reasons why individuals may be informally labeled as delinquents. Informal labeling is also influenced by the individual's delinquent behavior and by their position in society, with powerless individuals being more likely to be labeled (e.g., urban, minority, lower-class, adolescents). Matsueda also argues that informal labels affect individuals' subsequent level of crime by affecting their perceptions of how others see them. If they believe that others see them as delinquents and trouble-makers, they are more likely to act in accord with this perception and engage in delinquency.

John Braithwaite extends labeling theory by arguing that labeling increases crime in some circumstances and reduces it in others. Labeling increases subsequent crime when no effort is made to reintegrate the offender back into conventional society. But labeling reduces subsequent crime when efforts are made to reintegrate punished offenders back into conventional society. In particular, labeling reduces crime when offenders are made to feel a sense of shame or guilt for what they have done, but are eventually forgiven and reintegrated into conventional groups like family and conventional peer groups. Such reintegration may occur "through words or gestures of forgiveness. Braithwaite calls this process "reintegrative shaming." Reintegrative shaming is said to be more likely in certain types of social settings, for example, where individuals are closely attached to their parents, neighbors, and others. Such shaming is also more likely in "communitarian" societies, which place great stress on trust and the mutual obligation to help one another.

Social Disorganization Theory:

The leading sociological theories focus on the immediate social environment, like the family, peer group, and school. And they are most concerned with explaining why some individuals are more likely to engage in crime than others. Much recent theoretical work, however, has also focused on the larger social environment, especially the community and the society. This theory attempts to explain why some groups have higher crime rates than others. In doing so, however, the theory draws heavily on the central ideas of control, social learning, and strain theories.

Social disorganization theory seeks to explain community differences in crime rates. The theory identifies the characteristics of communities with high crime rates and draws on social control theory to explain why these characteristics contribute to crime.

Social disorganisation theory grew out of research conducted by sociologists at the University of Chicago in the 1920s and 1930s. Its key proponents are Clifford R. Shaw and Henry D. McKay, who used spatial mapping to examine the residential locations of juveniles referred to court. Shaw and McKay found that patterns of delinquency were higher in areas characterised by poor housing, poor health, socio-economic disadvantage and transient populations. This led them to suggest that crime was a function of neighborhood dynamics and not due to individual actors and their actions.

Shaw and McKay explained these patterns by reference to the problems that accompanied immigration to Chicago at this time. They claimed that areas settled by newly arrived immigrants experienced a breakdown of social norms due to ethnic diversity and competing cultural traditions. Conventional institutions of social control were therefore weakened and unable to regulate the behavior of local youths.

Crime is said to be more likely in communities that are economically deprived, large in size, high in multiunit housing like apartments, high in residential mobility and high in family disruption. These factors are said to reduce the ability or willingness of community residents to exercise effective social control, that is, to exercise direct control, provide young people with a stake in conformity, and socialize young people so that they condemn delinquency and develop self-control.

The residents of high crime communities often lack the skills and resources to effectively assist others. They often face problems in socializing their children against crime and providing them with a stake in conformity, like the skills to do well in school. These residents are also less likely to have close ties to their neighbors and to care about their community. They typically do not own their own homes, which lowers their investment in the community. They may hope to move to a more desirable community as soon as they are able, which also lowers their investment in the community. And they often do not know their neighbors well, since people frequently move into and out of the community. As a consequence, they are less likely to intervene in neighborhood affairs. Finally, these residents are less likely to form or support community organizations, including educational, religious, and recreational organizations. This further reduces control, since these organizations help exercise direct control, provide people with a stake in conformity, and socialize people.

Marxist Theories on Crime:

Marxists generally agree on the fact that most crime can be prevented by dismantling capitalist structures but disagree on the origins of crime. Let's look at the perspectives of traditional Marxists and neo-Marxists.

Traditional Marxism on Crime

Marxists believe that capitalism is '**criminogenic**', i.e. that it creates crime, and that although all social classes break the law, the criminal activities of the elite are what cause the most harm.

They emphasise the **class structure** in explaining crime – the ruling class are the lawmakers and benefit from the laws, as they are less likely to get caught or punished for the crimes they commit. Conversely, the working classes commit crimes due to the 'dog-eat-dog' values of the capitalist structure, such as greed, selfishness and materialism. They are punished and portrayed as criminals.

Traditional Marxists also argue that law enforcement works in favor of the ruling class in society by performing ideological functions. It reflects **bourgeois** ideology, such as protecting wealth and property over workers' rights. **Snider** argues that agencies of the criminal justice system, such as the police and court systems, control the masses by keeping them in a state of **false consciousness** - establishing ineffectual labour laws to obscure the reality of exploitation and preventing revolt.

Marxist theories argue that those who own the means of production (e.g., factories, businesses) have the greatest power. This group, the capitalist class uses its power for its own advantage. Capitalists work for the passage of laws that criminalize and severely sanction the "street" crimes of lower-class persons, but ignore or mildly sanction the harmful actions of business and industry (e.g., pollution, unsafe working conditions). This is not to say that the capitalist class is perfectly unified or that the government always acts on its behalf. Most Marxists acknowledge that disputes sometimes arise within the capitalist class and that the government sometimes makes concessions to workers in an effort to protect the long-term interests of capitalists.

Marxists explain crime in the light of several theories. Some draw on control theory, arguing that crime results from the fact that many workers and the unemployed have little stake in society and are alienated from governmental and business institutions. Some draw on strain theory, arguing that workers and unemployed people engage in crime because they are not able to achieve their economic goals through legitimate channels. And some draw on social learning theory, arguing that capitalist societies encourage the unrestrained pursuit of money. Also, Marxists argue that crime is a response to the poor living conditions experienced by workers and the unemployed. Marxist theories, then, attempt to explain both class and societal differences in crime

Neo-Marxism on Crime:

Unlike classical Marxists, Neo-Marxists believe that crime is an **after-effect** of capitalism, not caused by capitalism. Theorists such as **Taylor, Walton and Young** believe that not all working-class criminals are forced to break the law; rather, some of them actively choose to do so.

However, they argue that moral panics over comparatively minor crimes committed by the working class make the audiences' side with the ruling class **against** the marginalised. This helps in maintaining the capitalist social order. Neo-Marxists also argue that crime can sometimes be positive, particularly if committed by the working class or marginalised groups as a way to rebel against their conditions. Neo-Marxists propose that criminology should remain focused on pointing out the injustices of the capitalist structure in order to create positive change in society.

Realism:

Realist criminology tends to be written from a particular ideological position, i.e. it is politically right or left. Both approaches attempt to get 'real' about the problem of crime: treating it as a serious social issue.

Right Realism/Rational Choice Theory:

This branch of criminology sees individuals as rational actors: individuals are capable of making their own choices, which includes choosing to commit crime. In any course of action, individuals weigh up the likely benefits and disadvantages of each action.

Right realism emerged in the USA and the UK around the 1980s, in response to rising crime rates and a perceived failure of sociological approaches to adequately address the real causes of crime. Prominent right realists such as James Q. Wilson and Charles Murray come from political backgrounds and claim that criminological theory should inform criminal justice policy.

One of the key theories to emerge from this branch of criminology is rational choice theory, associated with the work of Cornish and Clarke. According to this theory, individuals not only decide to commit crime, but decide when and where to commit crime.

Left Realism/Relative Deprivation:

Left realism is a branch of critical criminology that developed in the UK and the USA in the 1980s. It suggests that crime disproportionately affects the lives of the poor and disadvantaged. Key proponents include Lea and Young and Elliot Currie.

One of the key concepts of left realism is relative deprivation. Closely associated with anomie theory, relative deprivation suggests that crime happens when individuals or groups see themselves as being unfairly disadvantaged compared to other individuals or groups who they see as being similar to themselves. Since the disadvantage is perceived and determined by an individual, it is a subjective assessment.

Left realists also support two other key theories to explain crime:

 Marginalisation: some groups experience marginalisation and at different levels (social, political and economic). These groups are on the periphery of society. Lacking political representation, these groups represent themselves and their ways of taking political action include the commission of crime and violence.

 Sub-cultures: Marginalised individuals and groups may come into contact with others who share these experiences, and who then may form their own sub cultures in which crime and violence may feature.

Conclusion:

All of the theories that are described explain crime in terms of the social environment, including the family, school, peer group, workplace, community, and society. These theories, however, differ from one another in several ways: they focus on somewhat different features of the social environment, they offer different accounts of why the social environment causes crime, and some focus on explaining individual differences in crime while others attempt to explain group differences in crime (e.g., why some communities have higher crime rates than other communities).

Sociologists continue to refine existing theories and develop new theories of crime, including integrated theories of crime. They, however, are coming to recognize that it is not possible to explain crime solely in terms of the immediate social environment. As a consequence, they are devoting more attention to the larger social environment, which affects the immediate social environment. Further, sociologists are coming to recognize that they need to take account of the factors considered in biological, psychological, and other theories of crime. Most notably, they must take account of individual traits like intelligence, impulsivity, and irritability. At the same time, the social environment that influences the development of individual traits and the ways in which individuals with particular traits behave.

REFERENCES:

1. Akers, Ronald L. 1998 *Social Learning and Social Structure.* Boston: Northeastern University Press
2. Bandura, Albert. 1986. *Social Foundations of Thought and Action.* Englewood Cliffs, N.J.: Prentice Hall.
3. Braithwaite, John. 1989. *Crime, Shame, and Reintegration.* Cambridge: Cambridge University Press
4. Cloward, Richard and Ohlin, Lloyd. 1960. *Delinquency and Opportunity.* Glencoe, Ill.: Free Press.
5. Cohen, Albert K. 1955. *Delinquent Boys.* Glencoe, Ill.: Free Press.
6. Cohen, Lawrence E. and Felson, Marcus. "Social Change and Crime Rate Trends: A Routine Activities Approach." *American Sociological Review* 44 (1979): 588–608.
7. Gottfredson, Michael and Hirschi, Travis. 1990. *A General Theory of Crime.* Palo Alto, Calif.: Stanford University Press.
8. Hirschi, Travis. 1969. *Causes of Delinquency.* Berkeley, Calif.: University of California Press.
9. Kumar, Navin. 2015. *Criminal Psychology*. Gurgaon. Lexis Nexis.
10. Matsueda, Ross L. 1992. "Reflected Appraisals, Parental Labeling, and Delinquency: Specifying a Symbolic Interactionist Theory." *American Journal of Sociology* 97: 1577–1611.
11. Matza, David and Sykes, Gresham M. 1961. "Juvenile Delinquency and Subterranean Values." *American Sociological Review* 26: 712–719.
12. Merton, Robert K. 1938. "Social Structure and Anomie." *American Sociological Review* 3: 672–682.
13. Padhy, Prafful. 2020. *Crime and Criminology (Principles of Criminology) Vol I*. New Delhi. Disha Publications.
14. Paranjape, P.V.2022.*Criminology and Penology*.New Delhi. Central Law Publication.
15. Sampson, Robert J.; and Groves, W. Byron. 1989. "Community Structure and Crime: Testing Social-Disorganization Theory." *American Journal of Sociology* 94: 774–802.
16. Sutherland, Edwin H.; Cressey, Donald R.; and Luckenbill, David F. 1992. *Principles of Criminology.* Dix Hills, N.Y.: General Hall.
17. Swami, M.N. 2019. *Criminology and Criminal Justice System*. New Delhi, Deccan Law House.

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

Human Rights Mechanism in South Asian Countries: Challenges and Recommendations

Dr. Shuchita Singh

Abstract:
Human rights law is part of international customary law and interstate concern. South Asian Association for Regional Cooperation (SAARC) countries have common features, such as geographic and climatic conditions, and share issues concerning the socioeconomic, cultural, and educational advancement of their people In SAARC, there are various rights those cross national borders, like, poverty, democracy, border killing etc. Rights mechanism in regional level would be an effective advancement towards this larger freedom beyond only economic prosperity. Due to structural weakness, lack of effective mechanism, legal bodies, regional rights issues are not possible to discuss under SAARC which is one of the stumbling blocks of regional cooperation. Among the eight SAARC countries, only six countries have National Human Rights Institutions SAARC. This paper will explore the importance of mechanism, challenges of establishing, and its recommendations.

Keywords: SAARC, Human rights mechanism, Human rights mechanism in SAARC, Challenges of human rights mechanism

Introduction

South Asian Association for Regional Cooperation (SAARC). SAARC is an inter-regional organization whole members comprise of eights nations: Seven South Asian countries Bangladesh, Bhutan, India, Maldives, Nepal, Pakistan, and Sri Lanka—launched the economic and political organization SAARC on 8 December 1985. Afghanistan joined it in April 2007. SAARC provides a platform for working together in a spirit of friendship, trust, and understanding to accelerate economic and social development, including education, in South Asian countries. Human resource development is one of five areas of cooperation agreed on by the member countries.

At the first SAARC summit in Dhaka, King Jigme Singya Wangchuck of Bhutan stated, "We have to bear in mind that is spite of all out heterogeneity, we are geographically one homogeneous unit, that out people have lived together in peace and friendship for countless countries, and that they share many values rooted in our common past" (Sattar, Seng, & Muzart, 2012, p. 6).

In terms of population, the SAARC region covers nearly 1,500 million people, one of the largest such regional organizations. SAARC countries share certain common social and economic problems, including those related to education. Low literacy rates, poor infrastructure, poor living standards, The people of SAARC are being suppressed for rights violation. Every country has been suffering from a lot of rights violation even though the state has will. But there is no mechanism. Instruments include treaties, conventions and declarations etc. for localize international norms and standards reflecting particular human rights in the region while mechanisms include commissions, special rapporteurs, courts etc. help to implement localized norms. The human rights record is very poor in SAARC countries. SAARC member- states have already signed several conventions on narcotics, trafficking in women and children for prostitution, and the promotion of child welfare. There have also been several agreements on food security and

various social issues. However, there has been no convention focusing specifically on human rights and fundamental freedoms This situation could be improved by creating a rights mechanism at regional level like other parts of the world like EU human rights mechanism, Effective mechanism can boost up overall human rights condition but it should maintain some criteria as well as prerequisites. These are the challenges of mechanism.

The paper explores, the importance of human rights mechanism; the present status of human rights mechanism in the SAARC regions and the third part is for the relevance of rights mechanism in SAARC by explaining the present situation of SAARC. Challenges and recommendations to make the mechanism happened.

Human Rights Mechanism in SAARC

Human rights activists in South Asian countries have for a long time supported the concept of evolving collective mechanisms on many issues of common concern, particularly in view of the fact that many human rights issues demand bilateral and regional solutions.

Recognizing this need a five-member committee comprising Mr. I.K. Gujral, former Prime Minister of India, Dr. Kamal Hossain from Bangladesh, Dr. Devendra Raj Panday from Nepal, Ms. Radhika Coomaraswamy from Sri Lanka and Mrs. Asma Jahangir from Pakistan organised a convention to discuss the possibility of a South Asian regional human rights organization. Delegates were drawn from recognized human rights organizations and included jurists, academics, public figures, trade unionists and media persons. The convention was held at the Neemrana Fort, Rajasthan, India on July 21-22, 2000. After extensive discussions the convention adopted the Neemrana Declaration and decided to set up an organization called South Asians for Human Rights (SAHR).

South Asians for Human Rights (SAHR) has been striving to promote regional solidarity based on human rights principles – people-centred and people-oriented in South Asia. SAHR together with other civil society groups organised the People's SAARC which is held parallel to the SAARC Summit.30 In 2016, a SAHR delegation met with the SAARC Secretary General to discuss the establishment of a South Asian human rights mechanism as well as including civil society organisations human rights concerns in the main SAARC agenda.

At the Eleventh Summit in 2002, SAARC for the first time raised voice to make a mechanism. Two years later Social Charter‟ was adopted with several commitments to strengthening economic, social and cultural rights. In March 2010, FORUM-ASIA in collaboration with INSEC-Nepal had organized the First Sub-Regional Workshop on Regional Human Rights Mechanism for South Asia in Kathmandu. The outcome document was the "Kathmandu Declaration 2010 "that incorporated a strong call to the South Asian governments to establish an independent, effective and accountable regional human rights mechanism with an explicit mandate of promoting, protecting and fulfilling human rights, through a process of wide consultation‟ (SAARC, 2011; Fitzpatrick & O‟ Flaherty, 2011, p. 29). A delegation had also met with the Prime Minister of the Government of Nepal and requested him to push the agenda of a regional mechanism in South Asia in the 16th SAARC Summit in Bhutan and other forums. SAARC is the only regional organization to not have a human rights body for cooperation of its member (Sattar, Seng, & Muzart, 2012, p. 26; Siwakoti, 2011; Gautam, 2011, p. 3). It is possible a SAARC human rights mechanism "according to its unique character with a large population, rich diversity and strong

aspirations of the people to come together in a "South Asian" identity like other regional system established" (Deuja, 2011, p. 27).

The United Nations High Commissioner for Human Rights (Navi Pillay) reminded SAARC member-states in 2011 about the Vienna Declaration and Programme of Action, adopted by the World Conference on Human Rights in 1993, that "recognized the value of intergovernmental systems to promote and protect human rights at the regional and sub- regional level, and [that] their development has been continuously encouraged by the General Assembly and Human Rights Council." The High Commissioner noted that while a regional human rights mechanism for the whole Asia- Pacific has not progressed for the past twenty years, the establishment of subregional mechanism has made a headway as shown by the Association of Southeast Asian Nations (ASEAN) whose human rights mechanism's "mandate and composition...have several weaknesses, [yet] they provide an important source of inspiration and lessons learned for SAARC countries in embarking on a similar journey. " The High Commissioner asked: So will SAARC prove ready to rise to this challenge? (Statement by the United Nations High Commissioner for Human Rights, United Nations Office of the High Commissioner for Human Rights)

To ensure democracy, in 2011, SAARC Charter on Democracy was adopted, later Food Bank was created for ensuring food security during humanitarian crisis. There are other treaty bodies those virtual support human rights organization or collective effort.

Huddle in adopting Common Human Rights Charter

SAARC has been ineffective in promoting and protecting human rights primarily because it neither has a shared position on human rights nor a human rights charter. Nothing can happen in SAARC unless all its members agree and none of the members are keen on a human rights charter. However, SAARC has a Social Charter that covers various dimensions of human rights. All or most of the SAARC countries have also signed international agreements like the Convention on the Elimination of all Forms of Discrimination against Women (CEDAW), the International Covenant on Civil and Political Rights (ICCPR), Convention on the Rights of the Child (CRC)and the International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights (ICSCER). There are common mechanisms under each. However, SAARC remains the only regional grouping with no regional human rights mechanism of its own.

The basic hurdle to adopting a human rights charter lies with the two founding principles of SAARC – internal non-interference and exclusion of contentious issues. Given these foundational principles of the SAARC Charter, the member countries would find it difficult to engage meaningfully with human rights as that could be interpreted as interfering in the internal affairs of a member state.

Some civil society activists believe that the refusal of SAARC to engage with a human rights charter has to do not only with the unfriendly attitude of the governments towards them in most South Asian countries, but also with human rights protection not being seen as an essential element of democratic governance by these governments. The ability of human rights organizations in these countries to influence their individual governments is also limited because organizations committed to human rights protection are discriminated against and vilified by the governments.

Relevance of Human Rights Mechanism in SAARC

The South Asian people share many socio-economic and political problems, such as poverty, illiteracy, unemployment, unequal treatment of women, violence against women, pollution, exploitation of child labor, and religious fundamentalism.

Human rights condition in the SAARC countries is vulnerable. Torture, trafficking, the internally displaced due to conflicts, refugees, rights over resources, urban shelter and demolition, livelihood, violence against women, death penalty, and involuntary disappearances, terrorism, religious fanaticism, communal violence rights of the migrant workers with a focus on female migration, right to food, climate justice, equitable utilization of common natural resources, social exclusion and marginalization of communities, increased people to people mobility etc. (Dhaka Consensus, 2012) are common scenario more or less in every country of SAARC.

In Afghanistan, during the war in 2001, the rate of human rights violation has escalated. According to Human Rights Watch Report-2011, the United States (US), the North Atlantic Treaty Organization (NATO) and Afghan forces were responsible for more than 350 civilian deaths in the first nine months of 2010, insurgents were responsible for at least 1700 civilian casualties during the same period, including 10 aid workers (Sattar, Seng, & Muzart, 2012, p. 14). In Bangladesh, extra judicial killings, censorship of media, the issue of self-determination of indigenous community of Bangladesh and more importantly, the killing of Bangladeshi citizens in border area by the BSF without justification are very severe in violation in the lens of human rights. Bhutan is alleged of killing Nepali origin people, discrimination in access to rights etc. India faces the problems of discrimination in access to basic rights, armed conflict in several parts, violation right to self-determination of Kashmir, violation against women, border killing etc. Maldives has the problem of religious freedom and corruption. The Sinhalese-controlled government of Sri Lanka is struggling to control a separatist movement, led by the Tamil minority, and disappearances, bombing in public areas, and random death are common .

Almost all South Asian countries have laws that do not respect essential notions of due process, often resulting in arbitrary arrests, assault, and killing of innocent people by government officials. South Asia can will afford to remain the only region in the world where there is no regional instrument to govern human rights.

Despite, there are many common problems and some development a regional human rights instrument could provide an impetus to the development of regional arrangements in another field of cooperation (Siwakoti, 2011; Gautam, 2011, p. 3; Shiraishi, 2007, p. 1).

Regional rights mechanism can solve the problems occurred between state and non-state actor from a neutral an apolitical ground that can ensure justice to the victims.12 The Mechanism will familiarize the South Asian region as a block with the international community based with the overall development of the region with special focus on intellectual and religious traditions and world-views of Asia and the Pacific (Malla, 2011, pp. 19-20; Deuja, 2011, p. 28).

Challenges of Human Rights Mechanism in SAARC

There are four basic elements that allow the regional system to become effective mechanisms for human rights protection. These are regional inclusiveness, independence, access to justifiability, and follow-up mechanism (European Parliament, 2010, p. 14)

The process of democratization in South Asian countries is very slow that hinders consolidation of human rights and democracy, even deficiency of democratic culture and lack of good governance are exist13 (Deuja, 2011, p. 27).

The second challenge is non-ratification of major international bodies of human rights.(in regional mechanism, an individual or group can only do petition against state for ensuring justice if the concurrent state ratified the legal body(s) then only a petition be lodged against state)

The third challenge is to ensure the effectiveness of the mechanism. SAARC itself is a problem of a regional mechanism in where the bilateral issues are not discussed.There is no ‚direct" legal provision within SAARC to establish a human rights mechanism (Gautam, 2011, p. 4). So, reforming SAARC is another challenge. Human rights are still being considered as home country affairs. Though, in the last 60 years, human rights are considered as a part of international customary law and inter-state concern, and no longer a matter for the exclusive determination by a single state (Siwakoti, 2011).

Fourth challenge, SAARC is lack of enforcement mechanism. Already signed treaties are yet to be implemented due to lack of human rights mechanism17 (Deuja, 2011, p. 27).

Fifth challenge, all of the rights mechanism should be evolved from the region's socio-cultural context, based on social reality so that the people and government can adopt with it easily (Siwakoti, 2011, p. 8). There is a lack of clear commitment to human rights. Dr. Mizanur Rahman (Chairman of Human Rights Commission of Bangladesh.) said there are two problems in South Asia, i.e. lack of Asian Charter for Human Rights, and lack of South Asian Convention for Human Rights (Rahman, 2011, p. 32). Effective regional integration is the precondition of human rights mechanism. So, a successful SAARC will give an effective regional mechanism.

Recommendations

Internal dynamics of SAARC should be changed. The legal provisions of SAARC should be reviewed in favor of distinct regional human rights mechanism. Moreover, the role of National Human Rights Institutions and civil society should be recognized and people access in the debate, dialogue and agenda setting should be ensured.

State sovereignty is the supreme question of implementing rights. So, upholding state sovereignty will give a strong state to implement human rights instruments (Siwakoti, 2011, p. 8; Malla, 2011, p. 20). Improving the relations among the political level is necessary while political problems are the key knots of good and smooth relation (Dahal, 2011, p. 10).

The human rights mechanism should focus on international politics and economic nexus to understand the economic forces on human rights such North-South division, poverty etc. (Siwakoti, 2010 p.8)

To improve democracy all over the region. Since democracy has positive relations with human rights promotion (Donnelly, 1996; Idowu, 2008; Junejo 2010; Gallagher, 1997, p. 1).

The mechanism should ensure that it should act independently of the government, it should be consistent with international human rights standards; it should respect existing national mechanisms; it should provide access to member governments and individuals to seek redress against the other member governments. The state party should give strong commitment to implement human rights mechanism; otherwise this would unrealistic, unnecessary and unattainable (Hay, 2009, p. 204).

Concluding Remarks

Each year for the past many years, government officials convene at the SAARC summit, and yet the most glaring human rights problems are never mentioned. The existence of significant ongoing human rights abuses simply is not acknowledged by the South Asian governments or their mainstream media. South Asian governments have ratified some international human rights instruments, but such policy is not reflected in the national constitution or law of any government. One cannot help but question whether South Asian governments really care about their citizen's interest in having human rights enforced by domestic law.

Despite common history, culture, same demographic and geographic tapestry, SAARC is the only region (sub-region) of the world without regional human rights mechanism. Though, the state is primarily responsible for the human rights condition within its border, but today, by dint of globalization, *nothing* is local .Despite various legal bodies, SAARC does not have any mechanism to deal with common humanitarian issues. There are many challenges to establish an effective regional mechanism like, legal provision, effectiveness, political will, lack of political commitment, domestication of rights value, upholding the values of regional socio-cultural perspective, democratization of South Asia, ensuring accountability and transparency in mechanism. The aforementioned challenges should be kicked out for ensuring a just, violation free South Asia. Several United Nation workshops urged "step-by-step" or "building blocks" approaches to build a regional mechanism (Chiam, 2009, p. 148)

SAARC should now seriously consider establishing a regional human rights mechanism similar to those of the Inter-American or European Systems. The mechanism would certainly help states to promote and protect rights and freedoms effectively within their jurisdiction. It would ensure that international human rights laws were respected and promoted effectively throughout the SAARC nations. Moreover, such a mechanism could help people in the region to develop a common understanding of universal human rights issues, norms, values and perspectives.

References

1. Chiam, S.; 2009; Asia's Experience in the Quest for A Regional Human Rights Mechanism; *Victoria University of Wellington Law Review;* **41**:127-148.
2. Dahal, P.R.; 2011; Relationship among SAARC Countries in the Present Globalized Context; *INFORMAL;* **31**:9-18.
3. Deuja, S.; 2010; Establishing a Robust Regional Human Rights Mechanism; *South Asia Regional Human Rights Mechanism;* **6**:4-7.
4. Deuja, S.; 2011; Establishment of a Regional Human Rights Mechanism in South Asia: Efforts, Possibilities and Challenges; *INFORMAL*; **31**:25-29.
5. Dhaka Consensus, 2012; *National Consultation in Bangladesh 2012 on Regional Human Rights Mechanis,* Dhaka : Regional Initiative for a South Asian Human Rights Mechanism.
6. Donnelly, J.; 1996; Human Rights, Democracy and Development; *Human Rights Quarterly;* **21**:608-632.
7. Durbach, A., Renshaw, C. and Byrnes, A.; 2009; A tongue but no teeth?: The emergence of a regional human rights mechanism in the Asia Pacific region; *Sydney Law Review;* **32**:211-238.

8. European Parliament, 2010; *The Role of Regional Human Rights Mechanisms*. Belgium: European Parliament.
9. Faruque, D.A.; 2012; Towards a human rights mechanism in South Asia. *The Daily Star*.
10. Fitzpatrick, K. and O"Flaherty, M.; 2011; *11thInformal ASEM Seminar on Human Rights "National and Regional Human Rights Mechanisms" Background Paper.* Belgium: European Union, Asia-Europe Meeting.
11. Gallagher, A.; 1997; The United Nations, Democracy and Human Rights; In T. N. (ed.); *Manual on Human Rights Monitoring: An Introduction for Human Rights Field Officers*, Norway: University of Oslo; pp. 1-13.
12. Gautam, B.R.; 2011; Why Sub-Regional Human Rights Mechanism in South Asia?; *INFORMAL;* **31**
13. . Hay, K.; 2009; Apacific Human Rights Mechanism: Specific Challenges and Requirements; *Victoria University of Wellington Law Review*; pp. 195-214.
14. Idowu, A.; 2008; Human Rights, Democracy and Development: The Nigerian Experience; *Journal of Internatıonal Studıes;* **8**:27-41.
15. Kidanemariam, F.F.; 2006; *Enforcement of Human Rights under Regional Mechanisms: a Comparative Analysis*, University of Georgia School of Law.
16. Leung, H.Y.; ASEAN and Human Rights: The prospects of implementing aregional mechanism for the promotion and protection of human rights in Southeast Asia; *lawanddevelopment.org*; pp. 1-16.
17. Malla, S.P.; 2011; Sub-Regional Human Rights Mechanism should Come into Being Soon; *INFORMAL;* **31**:19-20.
18. Ministry of Foreign Affairs of Thailand, (2003), Third Workshop for an ASEAN Regional Mechanism on Human Rights. *Third Workshop for an ASEAN Regional Mechanism on Human Rights Summary of Proceedings*.
19. NETWORK, A.P.; 2004; Establishing a Regional Human Rights Mechanism for the Asia-Pacific Region; *APHRN Paper*; pp. 1-6.
20. Orosa, T.J.; 2012; ASEAN Integration in Human Rights: Problems and Prospects for Legalization and Institutionalization; *Asian Regional Integration Review;* **IV**:66-88.
21. Panda, D.L., Dr. Lenin and Khan, S.; 2011; *Regional Human Rights Mechanism in SAARC: Possibilities and Challenges.* Retrieved January 25, 2013, from http://www.mynews.in
22. Pant, D.P.; 2011; Establish a Sub-Regional Human Rights Mechanism without due Delay. *INFORMAL,* **31**.
23. Policy, I.C.; 2005; *Assessing the Effectiveness of National Human Rights Institutions.* Switzerland: International Council on Human Rights Policy and the Office of the United Nations High Commissioner for Human Rights.
24. Pyakurel, S.; 2010; Prospects and challenges of NHRIs in the context an advocacy for a regional human rights mechanism in South Asia. *First Sub-Regional Workshop on a South Asia Human Rights Mechanism*, Kathmandhu, Nepal: Forum-Asia, p. 22.
25. Pyakurel, S.R.; 2011; Regional Human Rights Mechanism in South Asia. New Delhi.

26. Rahman, D.M.; 2011; Public Opinion, both Locally and Internationally, is Invreasingly Asserting for the Establishment of a Regional Mechanism; *Interview*, 30. (INFORMAL, Interviewer) INFORMAL.
27. SAARC, 2011; Retrieved January 12, 2013, from „Kathmandu Declaration: Outcome document of the First Sub-Regional Workshop on a South Asian Human Rights Mechanism: http://forum-asia.org
28. Sattar, M., Seng, Y.S. and Muzart, S. (Eds.); 2012; *SAARC and Human Rights: Looking Back and Ways Forward*. Bankok, Thiland: Asian Forum for Human Rights and Development (Forum Asia).
29. Shiraishi, O.; 2007; Regional Human Rights Mechanism; *Focus Asia Pacific*, **49**:1-15.
30. Siwakoti, D.G.; 2011; On the Establishemnt of a Regional Human Rights Mechanism in SAARC; *INFORMAL;* **31**:5-8.
31. Siwakoti, D.G.; 2011; *SAARC: Future of Freedom.* Retrieved February 5, 2013, from South Asians for Human Rights: http://www.southasianrights.org
32. Timilsina, D.N.; 2010; South Asian People‟s Assembly (People‟s SAARC) and Human Rights; *First Sub-Regional Workshop on a South Asia Human Rights Mechanism*; Nepal: Froum-Asia, pp. 34-38.
33. United Nations Human Rights, 2010; *Principles for Regional Human Rights Mechanisms (Non-Paper).* Retrieved January 12, 2013, from United Nations Human Rights, Office of the Hight Commissioner for Human Rights: http://bangkok.ohchr.org
34. United Nations Human Rights, 2011; *"The case for a SAARC regional human rights mechanism": Statement by the United Nations High Commissioner for Human Rights.* Retrieved January 15, 2013, from http://www.ohchr.org
35. United Nations Human Rights, 2012; *Enhancing the effectiveness of international, regional and national human rights mechanisms in protecting and promoting the rights of religious minorities.* Vienna: United Nations Human Rights.
36. Status of Regional Cooperation in South Asia A Critical Assessment of the South Asian Association for Regional Cooperation (SAARC)

Nav Jyoti, Vol. 11, No. 23, July-December 2023 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *5.125* (IIFS)

भारतीय समाज की संस्कृति और संरचना में महिलाऐं

डॉ0 अरिवन्द कुमार राजपूत
असि0 प्रो0 समाजशास्त्र
श्री अग्रसेन महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी) उ0प्र0

सारांश

यौन भेद–यह एक जैवकीय अवधारणा है जो प्राकृतिक रूप से प्राप्त होती है। शरीर की विशेष जैवकीय बनावट स्त्री तथा पुरुष के भेद को स्पष्ट करती है। इसके निर्धारण में समाज की कोई भूमिका नहीं होती। पोन भेद के आधार पर स्त्री और पुरुष के कुछ कार्यों का विभाजन अनिवार्य और अपरिहार्य है। उदाहरणस्वरूप हम देख सकते हैं कि स्त्री अपने जैवकीय यौन संरचना के कारण बच्चे को जन्म देती है, उसे दूध पिलाकर उसका पोषण करती है। यह कार्य अपनी जैवकीय संरचना के कारण किसी भी स्थिति में पुरुष नहीं कर सकता। इसका मुख्य कारण है कि यौन भेद जैवकीय और प्राकृतिक कारणों पर आधारित है। इसमें समाज दखल नहीं दे सकता। लिंग भेद का आधार सामाजिक है। समाज द्वारा लिंग भेद निर्मित किया गया है। उदाहरण द्वारा इसे हम स्पष्ट कर सकते हैं कि स्त्री को रात में नहीं घूमना चाहिए, स्त्री फौज जैसे सेवा के क्षेत्रों में कार्य नहीं कर सकती, स्त्री कमजोर है, स्त्री भावुक है, स्त्री राजनीतिक सत्ता और हिंसा से सम्बन्धित गतिविधियों में सफल नहीं हो सकती आदि–आदि अनेकों ऐसी मान्यताएं हैं जो लिंग भेद को दर्शाती हैं। समाज द्वारा प्राप्त सामाजिक स्वीकृति के कारण पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को दोयम दर्जा दिया गया है। इस अवधारणा की सामाजिक स्वीकृति समाज द्वारा दी गई है अर्थात् लिंग भेद समाज द्वारा उत्पन्न की गई एक सामाजिक समस्या है।

सृष्टि की रचना से ही स्त्री विचार के केन्द्र में रही है। जीवन में भी और साहित्य में भी। सदियाँ बीत गई, लेकिन बेटियों को लेकर हमारी सोच अब तक नहीं बदली। तकनीकी विकास हुआ और उस विकास का प्रयोग (दुरुपयोग) भी हमने गर्भ में पल रही बेटी की हत्या के लिए ही करना बेहतर समझा। स्त्री व पुरुष दोनों एक ही गाड़ी के दो पहिए हैं। परन्तु उसी में एक पहिया टूटा हुआ, जर्जर, दोयम दर्जे का तथा पददलित किया हुआ है। और गाड़ी को मंजिल तक पहुँचाने का कार्य भी उसी नरकृक्ति शास्त्रों के सब बन्धनों में जकड़ी हुई स्त्री रूपी पहिए का ही दायित्व है। प्रत्येक मानव के अध्ययन का क्षेत्र है मानव, और विषय होता है– मानव का विकास, परन्तु 'मानव' में स्त्री मी आती है, तो उसका भी विकास होना चाहिए। भारतीय समाज में नारी के सर्वांगीण विकास में पुरूष रूढ़िवादी संस्कार इस हद तक बाधक सिद्ध होते हुए, उस चरम पर पहुँच गए हैं कि मानवता कलंकित व शर्मशार हो रही है। भारतीय समाज में पुरुषों ने नारियों को संस्कार की कंगनरूपी बेड़ियों पहना दी है जिसे आधुनिकता की चाबियाँ भी नहीं खोल पा रही हैं। स्त्री सशक्तिकरण, स्त्री विमर्श, स्त्रीत्ववाद, स्त्रीत्ववाद की धाराएँ, उपधाराएँ, पूर्व की स्त्री पश्चिम की स्त्री, सशक्त स्त्री, अबला स्त्री, अच्छी–बुरी स्त्री, स्त्रीत्ववादी चिन्तन, चिन्ता, चुनौतियाँ, वैदिककालीन स्त्री, मध्य कालीन स्त्री, आधुनिक स्त्री, स्त्री स्वतन्त्रता, स्त्री मुक्ति आदि विषयों पर राग अलापने वाले समाज में क्या सचमुच नारी मुक्त हुई? उत्तर है नहीं। खेतों–खलिहानों में मजदूरी करती स्त्री, सड़क पर गिट्टी तोड़ती स्त्री, बोझा सिर पर और पेट में पल रहे शिशु को एक साथ ढोती स्त्री, आज भी सत्ता सम्पन्न पुरुषों, मद, ऐश्वर्य में चूर पुरुषों के अधीन है।

यौन भेद–यह एक जैवकीय अवधारणा है जो प्राकृतिक रूप से प्राप्त होती है। शरीर की विशेष जैवकीय बनावट स्त्री तथा पुरुष के भेद को स्पष्ट करती है। इसके निर्धारण में समाज की कोई भूमिका नहीं होती। पोन भेद के आधार पर स्त्री और पुरुष के कुछ कार्यों का विभाजन अनिवार्य और अपरिहार्य है। उदाहरणस्वरूप हम देख सकते हैं कि स्त्री अपने जैवकीय यौन संरचना के कारण बच्चे को जन्म

देती है, उसे दूध पिलाकर उसका पोषण करती है। यह कार्य अपनी जैवकीय संरचना के कारण किसी भी स्थिति में पुरुष नहीं कर सकता। इसका मुख्य कारण है कि यौन भेद जैवकीय और प्राकृतिक कारणों पर आधारित है। इसमें समाज दखल नहीं दे सकता। लिंग भेद का आधार सामाजिक है। समाज द्वारा लिंग भेद निर्मित किया गया है। उदाहरण द्वारा इसे हम स्पष्ट कर सकते हैं कि स्त्री को रात में नहीं घूमना चाहिए, स्त्री फौज जैसे सेवा के क्षेत्रों में कार्य नहीं कर सकती, स्त्री कमजोर है, स्त्री भावुक है, स्त्री राजनीतिक सत्ता और हिंसा से सम्बन्धित गतिविधियों में सफल नहीं हो सकती आदि–आदि अनेकों ऐसी मान्यताएं हैं जो लिंग भेद को दर्शाती हैं। समाज द्वारा प्राप्त सामाजिक स्वीकृति के कारण पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को दोयम दर्जा दिया गया है। इस अवधारणा की सामाजिक स्वीकृति समाज द्वारा दी गई है अर्थात् लिंग भेद समाज द्वारा उत्पन्न की गई एक सामाजिक समस्या है।

जगत–घट को विष से कर पूर्ण
किया जिन हाथों ने तैयार
लगाया उसके मुख पर नारि
तुम्हारे अधरों का मधु–सार
नहीं तो कब का देता फोड़
पुरूष विष घट यह ठोकर मार
उसी मधु का लेने को स्वाद
हलाहल पी जाता संसार । **– हरिवंश राय बच्चन**

यह है हजारों सालों से चले आते पुरुप संस्कार का सार। शब्द चाहे जो भी हों, पुरुष नारी को जो कुछ समझता है, वह इन पंक्तियों से स्पष्ट है। सच तो यह है कि हमारी सारी परम्परागत सोच ने नारी को दो हिस्सों में बांट दिया गया है–कमर से ऊपर की नारी और कमर ते नीचे की औरत। हम पुरुष को उसकी सम्पूर्णता में देखते हैं, उसकी कमियों और कमजोरियों के साथ उसका मूल्यांकन करते हैं। नारी को हम सम्पूर्णता में नहीं देख पाते–कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है, करुणा–भरी है, सुन्दरता और शील की देवी है, वह कविता है, संगीत है, अध्यात्म है और अमूर्त है। कमर से नीचे वह काम–कन्दरा है, कुत्सित और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षसी है और सब मिलाकर नरक है। इसी बटे और दुहरे रवैए से हम उसके शरीर की ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की यात्राएं करते हैं, उसके मातृत्व की शारीरिकता को नहीं वात्सल्य की भावना को गरिमा देते हैं। नारी से अधिक नारी का आइडिया हमें हमेशा सम्मोहित करता रहा है और हमारे द्वारा निर्मित सारी संस्कृति इस आदर्श नारी के सांचे में ही उसे ढालने का प्रयास कर रही है।

आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक नारीवादी पितृतन्त्र को फ्रायड एवं उसके अनुगामियों के सिद्धान्त के आधार पर विश्लेषित करते हैं। सिद्धान्तकार व्यक्तित्व की व्याख्या भावात्मक, आधार पर करते हैं। भावनाएं हमारे अर्द्ध चेतन एवं अचेतन मन में दबी हुई रहती हैं। फ्रायड स्वयं पितृतन्त्र को मानने वाले थे। उन्होंने लिंग विभेद और लिंग असमानता को तो स्वीकार किया, किन्तु वे लिंग उत्पीड़न को स्वीकार नहीं करते हैं। फ्रायड नारी को द्वितीय वर्ग का मानव प्राणी मानते हैं। उनका कहना है कि नारी की मानसिक प्रकृति ही ऐसी है जो उसे पुरुष की तुलना में कम होना बनाती है । प्रसिद्ध विद्वान फ्रायड ने समाजीकरण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। फ्रायड ने अपने इस सिद्धान्त को काम–प्रवृत्तियों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। फ्रायड ने काम–प्रकृतियों को लिबड़ों नाम देकर इसे ही मानव व्यवहार की संचालक शक्ति के रूप में प्रतिस्थापित किया है। मानव मस्तिष्क के विषय में फ्रायड ने मस्तिष्क की तीन प्रक्रियाओं में अचेतन प्रक्रिया अवचलेन प्रक्रिया तथा चेतन प्रक्रिया की चर्चा की है। इस प्रकार फ्रायड का कहना है कि अचेतन, अवचलेन तथा चेतन में तीनों मस्तिष्क की प्रक्रियाओं को स्पष्ट करती हैं। मनोविश्लेषणात्मक नारीवादियों ने पितृतन्त्र को एक ऐसी व्यवस्था माना है जिसमें पुरुष

नारी को अपनी अधीनता में रखता है और नारी कभी–कभी ही इसका विरोध करती है। इस सन्दर्भ में प्रश्न उठता है कि पुरुष पितृतन्त्र को क्यों बनाए रखना चाहता है तथा नारी इसका विरोध क्यों नहीं कर पाती।

नारीवाद को सैद्धान्तिक दृष्टि से विवेचित करने से पूर्व उसे उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना समीचीन होगा। नारीवाद के बौद्धिक कार्य को समय की दृष्टि से दो भागों में बांट सकते हैं–पहला 1000 से 1840 के बीच व दूसरा, 1840 से 1960 तक। इस युग में नारीवादी लेखन का जो कार्य हुआ वह पश्चिमी समाज में इस क्षेत्र में रिकार्ड कहा जा सकता है। इसमें लगभग 300 वर्षों की सामाजिक विरोध सम्बन्धी रचनाएं हैं जिन्होंने आधुनिक नारीवादी सिद्धान्तों की नींव रखी तया समाजशास्त्र में नारीवादी पर्यावरण के निर्माण में सहयोग दिया। नारीवाद के सन्दर्भ में एक–दो अपवादों को छोड़कर 1630 के दशक में प्रारम्भिक लेखन का कार्य हुआ जो लगभग 150 वर्षों तक चला। इसके बाद 1780 से वर्तमान समय तक नारीवादी लेखन कार्य एक सामूहिक प्रयास के रूप में रहा जिसमें सहभागिता एवं आलोचना दोनों क्षेत्रों में प्रगति हुई। कोट, लोगी, मार्टिन, रोसी, शोवान्टर तथा स्पेण्डर आदि को कृतियों में प्रारम्भिक नारीवादी लेखन कार्य हुआ। इनकी कृतियों में यह बताया गया कि नारी शक्तिविहीन एवं पुरुष के अधीन रहने वाली है। नारीवाद के बारे में समाजशास्त्र में बौद्धिक परम्परा का प्रारम्भ 1840 से 1860 के बीच माना जाता है। इस समय में नारीवादी विरोध प्रारम्भ हुजा तथा 1890 से 1920 नारीवाद के बारे में व्यावसायिक कार्य भी किए गए। समाजशास्त्र 1840 से 1960 के बीच एक परिप्रेक्ष्य के रूप में उभरा और उसके बाद एक संगठित एवं व्यावसायिक शैक्षिक विज्ञान के रूप में। इस विज्ञान का निर्माण करने वालों में सभी पुरुष ही थे। अतः नारी सम्बन्धी लेखन या तो बहुत कम हुआ या केवल सतही स्तर पर रहा है। स्पेन्सर से लेकर, वेबर, दुर्खीम व पारसन्स तक के समाजशास्त्री जिन्होंने समाजशास्त्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, नारीवादी विचारों से अछूते ही रहे।

नारीवाद से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त हैं जिनका वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से किया है। जीन बी. एलइस्टेन ने नारीवादी सिद्धान्तों को चार भागों में बांटा है– उग्र उन्मूलनवादी, उदारवादी, मार्क्सवादी एवं मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त डोनोवान ने नारीवादी सिद्धान्तों को पांच भागों में बांटा है– सांस्कृतिक, फ्रायडवादी, अस्तित्ववादी, मार्क्सवादी, एवं उम्र उन्मूलनवादी सिद्धान्त। जॉर्ज रिट्जर ने सभी नारीवादी सिद्धान्तों को मोटे तौर पर तीन भागों में विभक्त किया है– लिंग विभेद सम्बन्धी सिद्धान्त, लिंग असमानतावादी सिद्धान्त एवं लिंग उत्पीड़न नारी सिद्धान्त पश्चिमी देशों में विभिन्न महिला आन्दोलनों का सम्बन्ध पुनर्जागरण से रहा है। ये सभी आन्दोलन अमेरिका फांस, इटली, इग्लैण्ड तथा यूरोप के अनेक देशों में महिला का रूप परिस्थितियों के अनुसार भिन्न–भिन्न रहा। नारीवादी सभी सिद्धान्त पश्चिमी विचारधारा के इतिहास के प्रतिबिम्ब है। अतः उन पर पश्चिमी विचारों का ही अधिक प्रभाव दिखाई देता है।

इन देशों में महिला आन्दोलन का कारण महिलाओं के मताधिकार प्राप्ति से हुआ जिसने धीरे–धीरे सामाजिक और आर्थिक समानता की मांग का रूप लेकर नारी मुक्ति का रूप लेना आरम्भ कर दिया। इन देशों में महिलाओं के विरुद्ध होने वाले यौनिक अपराधों तथा सामाजिक विकृतियों से भी महिला आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिला। नारी मुक्ति आन्दोलन को प्रेरणा देने में सिमेन द बोयर की बहुचर्चित पुस्तक 'द सेकेन्ड सेक्स' ने एक प्रभावी भूमिका निभाई। इसी के प्रभाव से बहुत से विचारकों ने नारी मुक्ति के विषय में चिन्तन करना प्रारम्भ किया। बेट्टी फ्राइडन की पुस्तक 'द फेमिनिन मिस्टिक' के प्रकाशन से एक पत्नी, गृहिणी और मां के रूप में जनसाधारण की महिलाओं की दुर्दशा और समस्याओं को समझने का अवसर मिला। बेट्टी फ्राइडन ने एक नेशनल आर्गनाइजेशन ऑफ वीमेन नामक संस्था की सन् 1966 में स्थापना की जिसने नारी स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए महत्वपूर्ण कार्य करना आरम्भ कर दिया।

इस चरण में पश्चिम के देशों में नारी मुक्ति की मांग जोर पकड़ने लगी। सन् 1970 में अमेरिका के विभिन्न नगरों में होने वाले प्रदर्शनों में यह नारे दिए गए कि हमें आजादी दो, हमें पुरुषों के समान अधिकार दो, हमारे साथ दूसरे दर्जे का व्यवहार बन्द करो, हमें पुरुषों के बराबर नौकरियां और वेतन दो, हम अपने शरीर पर अपना अधिकार चाहती हैं, लैगिक भेदभाव बन्द करो, हमें गर्म रखने या न रखने की स्वतन्त्रता दो आदि। जब केट मिलेट की पुस्तक 'सेक्सुअल पालिटिक्स' का प्रकाशन हुआ तो उन्होंने पुरुष प्रधान दृष्टिकोण का विरोध करने के साथ नारियों के लिए स्वतन्त्र यौन सम्बन्धों की आवश्यकता की आवाज उठाई, उन्होंने एक ऐसे आन्दोलन पर जोर दिया जो सुधारवादी न होकर नारी उत्थान से सम्बन्धित हो।

पश्चिमी समाजों में नारीवादी आन्दोलन तीसरे स्तर पर समानता की जगह नारी मुक्ति पर केन्द्रित हो गया। इसका एक उद्देश्य महिलाओं को पुरुषों की वासना से मुक्ति पाना था। इस स्तर पर महिलाओं ने बौद्धिक और ताकिक आधार पर समाज में पुरुषों की श्रेष्ठता का खण्डन किया तथा लेगिक भेदभाव और विज्ञापनों में महिलाओं के अश्लील प्रदर्शन का विरोध करना आरम्भ कर दिया। यह एक ऐसा प्रयास था जिसे धीरे धीरे अधिकांश जागरूक लोगों का समर्थन मिलना आरम्भ हो गया। पाश्चात्य नारीवादी आन्दोलन अपनी संगठनात्मक विशेषता और उच्च स्तर के नेतृत्व से भी प्रभावित हुजा । इस आन्दोलन के द्वारा उन राजनैतिक दलों का बहिष्कार करने की आवाज उठाई गई जो महिला आन्दोलन का किसी भी रूप में विरोध करें। धीरे–धीरे महिला आन्दोलनों के फलस्वरूप पश्चिमी देशों में एक ऐसी जागरुकता विकसित होने लगी जो परम्परागत व्यवस्थाजों से भिन्न लेगिक विभेद के विरुद्ध थी। महिला आन्दोलन के प्रभाव से ही पश्चिम में महिलाओं की जीवन शैली, व्यवहार, प्रतिमानों तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता में भी इस तरह परिर्वतन होने लगे जिससे इन्हें पुरुषों के अधीन उपभोग की एक वस्तु के रूप न देखा जा सके। स्त्रियों की स्थिति में सुधार के लिए जो प्रयास 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर आज तक किए गए उनके क्रान्तिकारी परिणाम सामने आए हैं। सिद्धान्त रूप में उन्हें पुरुषों के समान अनेक व्यक्तिगत, पारिवारिक, वैवाहिक और राजनैतिक अधिकार कानून द्वारा दिए गए हैं, जिनसे स्त्रियों की स्थिति के व्यवहारिक रूप में काफी सुधार देखने को मिलते हैं। 19वीं शताब्दी तक हिन्दू स्त्री की स्थिति बहुत दयनीय, अमानुषिक और अत्याचारपूर्ण हो गई थी। इसी शताब्दी के प्रारम्भ में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए प्रयासों की शुरुआत हुई। सर्वप्रथम 1813 में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को आदेश दिया कि वे सभी वर्गों में शिक्षा का प्रसार करे। इंस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अनेक भारतवासियों ने स्त्रियों की दयनीय स्थिति को देखकर उसे सुधारने के प्रयास किए। उनमें उल्लेखनीय सुधारक राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, कर्वे, महात्मा गांधी आदि हैं।

आधुनिक काल में नारी का स्वरूप परिवर्तित हुआ है। आज की आधुनिक नारी पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल रही है। देखना चाहते हैं तो यह छवि आप महानगरों में देख सकते हैं। वहां आपको बड़ी संख्या में नारियां स्कूटर या कार चलाती हुई अपने–अपने कार्यस्थलों की तरफ जाती हुई दिखेंगी। बहुत सी लड़कियां व स्त्रियां अपने पर्स और लंच पैक को संभाले सड़क पार करती हुई दिखेंगी। इनमें से बहुत सी लड़कियां व स्त्रियां मेट्रो में सवार होकर अपने कार्यस्थल पर जाती हैं। इनमें नए भारत की नई स्त्री की छवि है। इस तरह की लड़कियां सिर्फ मेट्रोज में ही नहीं छोटे शहरों और कस्बों में भी बहुतायत में है जिनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। ये छवियां ऐसे ही नहीं बन गई हैं। इन्हें बनाने में गत सौ साल का इतिहास तो छिपा ही है, कानूनों का भी विशेष हाथ है। स्त्री की बदलती इस छवि को बनाने और सहारा देने में मीडिया ने भी भरपूर योगदान दिया है। आखिर एक लड़की जो हील पहनने के बावजूद तेज चाल से चल रही है, जिसके बाल छोटे–छोटे हैं जिन्हें सवारने में ज्यादा वक्त नहीं लगता, जिसके कंधे पर आज की जरूरत के अनुसार बड़ा सा पर्स लटका है और जो कार, स्कूटर या मेट्रो पर सवार होकर अपनी गति की स्वयं स्वामिनी है। उसे अपनी गति पर

नियन्त्रण रखने के लिए घर के किसी पुरुष (पिता, पति, पुत्र और भाई) का सहारा लेने या किसी से दो कदम पीछे चलने की जरूरत नहीं है। ऐसी लड़की से घूंघट ओढ़वाने की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? ये भारतीय नारी अपने अधिकार व कर्त्तव्य के प्रति जागरूक हैं जिससे न केवल उनका अपना विकास होगा, अपितु वे देश के विकास में भी सहभागी बनेंगी

आज देश की आधी आबादी अर्थात् स्त्रियों का एक बहुत विशाल प्रतिशत अपने वैधानिक अधिकारों को लेने का प्रश्न जानता ही नहीं। अधिकारों का जब ज्ञान ही नहीं तो उससे लाम ही उपस्थित नहीं होता। आज भी दूर–दराज के गावों में स्त्री की कमाई छीन कर उसका पति शराब पी जाता है और अपनी पत्नी को पीटता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि स्त्री इस पिटाई को ही अपना अधिकार समझती है। ऐसे समय में यदि कोई दूसरा बीच–यचाव करने जाता है, तो पिटाते हुए भी यह तमक कर बड़ी हो जाएगी और कहेगी कि 'मेरा पति है मुझे पीटता है, तेरी घरवाली को तो नहीं पीटता।'

हिन्दू विवाह विधि के अन्तर्गत पांच–सात वचनों में या किसी भी कानून में यह नहीं लिखा है कि घरवाली होने का धर्म यह भी है कि वह अपने पति से मार खाए । 21वीं सदी की ओर अग्रसर भारत की नारी का यह चित्रण हमारी विकास गाथा पर एक कलंक है। अशिक्षा और रूढ़ि के इस स्वरूप के जिम्मेदार आज की जागृत महिलाएं ही हैं। आज हिन्दू दुल्हन आग में जल रही है, तो मुस्लिम औरत तपेदिक में गल रही है। मुस्लिम गरीव तबके की औरतें कितनी गंदगी में घुटती हैं, यह तो जो वहां जाएगा उसे ही मालूम हो सकेगा। मधु किश्वर एवं बनिता रूप द्वारा सम्पादित 'इन सर्च आफ ऑनर्स इंडियन वीमेन्स व्हायसेस फ्राम मानुषी' की भूमिका में मधु किश्वर जो भारत की एक प्रमुख आधुनिक स्वी हैं, लिखती हैं कि 'भारत में स्त्रीत्व का जो व्यापक लोकप्रिय सांस्कृतिक ई आदर्श है, वह हम लोगों में से ज्यादातर के लिए फांसी का फन्दा बन गया है। उस आदेश के अनुसार स्त्री निःस्वार्थ त्याग की मूर्ति है जो देती ही जाती है–अनन्त काल तक अनन्त सीमा तक यह भी गरिमा के साथ हंसते–हंसते, मांगे चाहे जो हों, चाहे जितनी अविवेकपूर्ण और हानिकारक हों, उन्हें पूरा करना उसका कर्तव्य है। वह केवल प्रेम अनुराग तथा निस्वार्थ सेवा ही नहीं देती, बल्कि पति, बच्चों और परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य की वेदी पर अपना स्वास्थ्य और जीवन तक न्यौछावर कर देती है। परिवार में स्त्री को दासी मानने और उसके प्रति अनादर का भाव रखने की विचारधारा इतनी महत्वपूर्ण भूमिका – निभाती है कि इसके कारण स्त्रियों को लाठी और गाली से दबाना तक आम बात माना जाता है।

अतः इस समस्या का समधान भी समाज ही कर सकता है। समाज ने इस समस्या के समाधान की दिशा में कार्य आरम्भ किया। आजादी के बाद महिलाओं की दशा में और भी परिवर्तन आया। संविधान में उन्हें पुरूषों के समान अधिकार दिया गया, जिसके चलते वे पुरूषों की सहभागी बनकर कार्य करने लगीं, उन्हें पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने का अवसर मिल गया। संयुक्त राष्ट्र ने 1975 को अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष और 1975–85 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक घोषित किया था।

हमारे देश में प्रति वर्ष 8 मार्च को महिला दिवस के रूप में मनाया जाता है। आधुनिक भारत में उक्त सारी मान्यताएं टूट गई। आज जल,थल और वायु तीनों सेनाओं में स्त्रियां छोटे से रूप में सभी पदों पर कार्यरत है। आज राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल, मुख्यमंत्री से लेकर ग्राम प्रधान पद को महिलाएं सुशोभित कर चुकी हैं। कठोर और दृढनिश्चय तथा निर्णय महिलाओं द्वारा लिया जा रहा है। उद्योग, व्यापार, कृषि सेवा आदि क्षेत्रों के सभी उप–क्षेत्रों में महिलाओं की समान भागीदारी उल्लेखनीय है। यह परिवर्तन और रूपान्तरण समाज में, समाज द्वारा, समाज के लिए त्वरित स्तर पर आज हो रहा है। अर्थात् जिस समाज ने लिंग भेद उत्पन्न किया वही समाज आज उस भेद को दूर भी कर रहा है। हालांकि अभी भी हम लक्ष्य से बहुत दूर है।

व्यक्ति को स्वतंत्र अस्तित्व का मान दिया जाए स्त्रियों को अपनी इच्छा स्वतंत्र गतिविधि और सभी कार्यो करने की अनुमति दी जाए। स्त्री की अस्मिता सुरक्षित की जाए अर्थात् वह मानवीय है

उनकी अपनी पहिचान हो उसकी अपनी पसन्द हो। वह अपनी इच्छा से विवाह करे। स्त्रियों को आत्मनिर्भरतः हो अपने जीवन जीने का अधिकार हो।

पूरे मानव समाज में स्त्रियों की जो कमजोर स्थिति है। उसकी दो तरह की व्याख्यायें है। 1970 से पहले एक महिलावादी दृष्टिकोण प्रचलित था। 1970 के बाद जेंडरवादी दृष्टिकोण प्रचलित हुआ है। महिलावादी दृष्टिकोण के अनुसार महिला इसलिए कमजोर है क्योंकि वह शारीरिक रूप से पुरूष से कमजोर होती है। आकार छोटा होता है। मस्तिष्क छोटा होता है। औसत शारीरिक बल कम होता है। इस तर्क का खण्डन सिमेन डिबुवाआर ने किया उन्होने कहा यह असमानता है कमजोरी नहीं यह कहा जाता है महिला कम बुद्धिमान होती है। महिलाऐं दूसरों से प्रभावित हो जाती है। दूसरो के बहकावे में आ जाती है। महिलाओं में भावनात्मक पक्ष अधिक होता है वे भावना में बह जाती है। महिलाओं में निर्णय लेने की क्षमता नहीं है पिण्डारी नाथ हरि प्रभु ने अपनी पुस्तक हिन्दू सोसल आर्गन नाइजेशन में लिखा है कि यह निर्विवाद सत्य है कि महिलाऐं संकट की अवस्था में अथवा महत्वपूर्ण अवस्थाओं में स्वतंत्र निर्णय नहीं ले सकती है।

1970 के दशक में इस दृष्टिकोण का गम्भीर विरोध हुआ एम ओकले ने जेंडर शब्द का प्रयोग किया उन्होने कहा कि महिलाऐं कमजोर होती नहीं है उन्हें कमजोर बनाया जता है। जेंडर का अर्थ है उन्हें महिला बनाया जाता है जेंडर का अर्थ है समाज संस्कृति संरचना शक्ति का वितरण महिलाओं को कमजोर करता है। समाज का दृष्टिकोण महिला व पुरूष को अलग–अलग ढंग से देखता है और स्त्रियां घर का काम काज देखे जेंडर का प्रश्न संस्कृति के द्वारा महिलाओं को कमजोर बनाने का है। महिला के सम्बन्ध में अलग–अलग विचार धारा व वैचारिक दृष्टिकोण है– विश्व के सभी धर्म महिलाओं को कमजोर मानते है उन्हें घर का काम काज करने को कहते है। उन्हें आदर्श मां आदर्श पत्नी और आदर्श बेटी बनाना चाहते है।

उदारवादी दृष्टिकोण पूँजीवाद का दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण टॉलकाट पारसन्स के द्वारा भी प्रस्तुत किया गया पारसन्स ने कहा पुरूष जोखिम उठाता है। नारी उसे समर्थन देती है। उदारवादी दृष्टिकोण में नारी को नौकरी के अधिकार मिले धूमने के अधिकार मिला परन्तु स्वतंत्र जीवन यापन का अधिकार नहीं मिला। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में नारी के समान होने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। एंगिल्स ने कहा नारी दोहरे शोषण का शिकार है। जिसे पारिश्रमिक नहीं दिया जाता है। बोवुआर के अनुसार सिद्धान्त रूप में इन्होने नारी को समानता दिया। धर्म महिलाओं को कमजोर स्थान प्रदान करते है। हिन्दू धर्म में इनकी स्थिति सबसे कमजोर है। हिन्दू मानस धार्मिक नियमों के कारण स्त्री को पुरूषों के बराबर स्वीकार नहीं करता है। भारत में दुबे के अनुसार हिन्दू धर्म में प्रभाव के कारण यह मानसिकता फैला गयी है।

दुबे ने कहा भारतीय परम्परा महिला विरोधी है। स्थानीय परम्परायें क्षेत्रीय परम्परायें और राष्ट्रीय परम्परायें सब की सब महिला विरोधी है। महिलाओं को कमजोर पति या पिता के अधीन रहने वाली माना जाता है। भारतीय परम्परा मजबूत महिलाओं को पसन्द नहीं करती है। योगेन्द्र सिंह ने कहा केवल भारतीय संस्कृति ही नहीं बल्कि सामाजिक संरचना भी स्त्रियों को कमजोर बनाती है। संयुक्त परिवार में स्त्रियों को स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है। ग्रामीण समुदायों में स्त्रियों महत्वपूर्ण रोजगार नहीं कर सकती है जाति व्यवस्था के कारण जाति की सुरक्षा के लिए स्त्रियां अपने घरों से लाठी लेकर नहीं निकल सकती है।

भारत में जो विचार धारायें है उससे नारी की स्थिति कमजोर होती है गांधी जी ने स्त्रियों को महत्व तो दिया परन्तु उन्होने कहा कि स्त्रियों में निर्णय लेने की पर्याप्त क्षमता नहीं है भारत में प्रचलित विचार धारा यह है कि स्त्री को एक मां और ग्रहणी के रूप में देखते हैं।

सम्पूर्ण भारत में महिलाओं की स्थिति एक जैसी नहीं है। दक्षिण भारत में और विशेष रूप से केरल में महिलाओं की स्थिति बेहतर है। स्थिति अच्छी होने का का एक प्रमाण उनकी अधिक संख्या है

इसलिए जहां स्त्री पुरूष अनुपात लगभग बराबर है वहां स्त्रियों की स्थिति अच्छी है। इसके बाद उत्तर पूर्वी भारत में जो जनजातिय भारत है जैसे नागालैण्ड, मणिपुर आदि। 1970 के दशक में जेंडरवादी दृष्टिकोण आ गया। महिलाओं ने यह दावा किया कि उन्हें भी एक व्यक्ति और मानवीय बनने का अधिकार है इस विचार का पूरे विश्व पर प्रभाव पड़ा है। पश्चिम के देशों में इस विचारधारा को अधिकारिक विचार धारा मान लिया गया।

भारत में महिलाओं की स्थिति रामकृष्ण मुखर्जी के अनुसार आमतौर पर कमजोरी के प्रमाण है। महिला की अपनी पहिचान व अस्मिता नहीं है। महिला को पिता से पति से पुत्र से पहिचान मिलती है। सामान्यतः महिलाऐं अपनी इच्छा से विवाह नहीं कर सकती है। इसके कुछ अपवाद जरूर है परन्तु सम्पूर्ण भारत में अधिकतर महिलाओं को माता–पिता की इच्छा से किसी भी व्यक्ति के साथ विवाह करना होता है।

महिलायें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं है निम्न वर्ग की महिलायें सम्पूर्ण भारत में सार्थक रोजगार में लगती है परन्तु उन्हें अपने उपार्जन को रखने खर्च करने कि स्वतन्त्रता नहीं है निम्न वर्ग में स्त्री का सबसे अधिक शारीरिक उत्पीड़न होता है। स्त्रियों को स्वतन्त्र रूप से घूमने फिरने का अधिकार नहीं है न ही वे राजनैतिक प्रक्रिया में भाग लेती है। सार्वजनिक हिंसा से उनका सरोकार नहीं है हिंसा से शक्ति बढ़ती है।

भारत में महिलाओं की कमजोर स्थिति की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। ए0आर0 देशाई ने कहा भारत में जो कृषि की संरचना है उस संरचना के कारण महिलाओं जमीन का नियंत्रण नहीं कर पाती है कृषि कार्य नहीं कर पाती है और अपनी फसल को सुरक्षित नहीं रख पाती है इससे उनकी स्थिति कमजोर होती है।

जेन्डरवादी दृष्टिकोण महिलाओं का अपना दृष्टिकोण है वह समझती है महिलाओं को उनकी नजरों से दुनिया को देखने नहीं दिया गया उनका कहना है जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यौन भेदभाव अन्तर्निहित है इसे केवल आर्थिक स्वतंत्रता से नहीं बल्कि मानवीय बनाकर ही सुनिश्चित किया जा सकता है। मिजोरम इत्यादि में उनकी स्थिति बेहतर है। इसके बाद असम व बंगाल की स्थिति है इरावती कर्वे ने कहा सम्भवतः यह दाम भाग नियमों का प्रभाव है जिसके चलते महिलाऐ परिवार में तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र होती है। इसके बाद पश्चिमी तटीय प्रदेशों की स्थिति है जैसे गोवा, महाराष्ट्र, गुजरात आदि गुजरात में स्त्री व पुरूष मैत्रीकरार की संस्था के द्वारा विवाह बंधन से बाहर यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। सबसे खराब स्थिति हिन्दी प्रदेशों की है यहां सरल कृषि की प्रबलता है हरियाणा में लिगानुपात बहुत कम है। कल्पना मेहरा के अनुसार इन क्षेत्रों में प्रचलित कहावत है अभी 5 हजार खर्च करो ना 5 लाख बचाओ।

हमारे समाज की एक बड़ी विडम्बना यह है कि महिलाओं के लिए अनगिनत कानून व अधिकार बनाए गए हैं, पर जिनके लिए वे. बनाए गए हैं, उन्हें उनकी जानकारी ही नहीं है। दरअसल, इस दिशा में अभी तक मजबूत कदम उठाए ही नहीं गए हैं। क्योंकि वस्तुओं के प्रचार–प्रसार में भी कहा जाता है– तुम शमा हो, तुम हुस्न परी। हमारी दृष्टि में–वो शमा नहीं, वो हुस्न परी नहीं..... क्यों महान बनाते हो उसे? क्यों त्याग की प्रतिमूर्ति बनाकर सजाते हो उसे..... वो सिर्फ तुम्हारी ही तरह हाड़–मांस की एक इंसान है.....न तुमसे कम, न तुमसे कुछ ज्यादा .....उसे उसका हक दो, वरना अब वो छीनना जानती है। नारी मुक्ति के तमाम घिसे–पिटे भाषणों से ऊपर उठकर आज एक नारी लड़ने का मादा रखती है, तो नारी होने के नाते खुद पर हो रहे अन्यायों के खिलाफ आप डरें नहीं, लड़ें। अतः इस समस्या का समाधान भी समाज ही कर सकता है। समाज ने इस समस्या के समाधान की दिशा में कार्य आरम्भ कर दिया है।

संदर्भ ग्रंथ–

1. बघेल डॉ0 डी.एस., राजनैतिक समाजशास्त्र, जवाहर नगर, दिल्ली।

2. नन्दा, बी.आर. इंडियन वीमेन, विकास पब्लिकेशन, दिल्ली 1976।
3. परमार दुर्गा, श्रमजीवी महिलाएं और समकालीन पारिवारिक संगठन, साहित्य भवन आगरा 1982।
4. शुक्ला डॉ0 मंजू, महिला साक्षरता एवं सशक्तिकरण
5. शर्मा प्रेमनारायन महिला सशक्तिकरण एवं समग्र विकास
6. सक्सेना डॉ0 रिचा राज, महिला सशक्तिकरण एवं लिंग भेद
7. सिमोने बोबुआर, द सेकेण्ड सेक्स 1957 (अनुवाद प्रभा खेतान)
8. सिंह डॉ0 अमिता, लिंग और समाज
9. कर्वे इरावती, किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया 1968
10. Kate Millett, Sexual Politics, Columbia University 1970.